प्रकाशक —

जगजीवनदास कस्तूरचंद शाह,
C/o श्री विद्याविजयजी स्मारक ग्रन्थमाला,
पो साठंबा (साबरकांठा : वाया धनसुरा ए. पी पी. वाय)

गुजराती में दो आवृत्ति

आवृत्ति प्रथमा (राष्ट्रीय भाषा हिन्दी मे)

मूल्य १०—०० रुपये

स. २०३४
सन. १९७८
वीर स. २५०४
धर्म स ५६

मुद्रक . .

साईनाथ प्रिंटिंग प्रेस,
कपूर कॉटेज, ११ वा रस्ता,
सातायुझ (पूर्व), मुबई—५५.
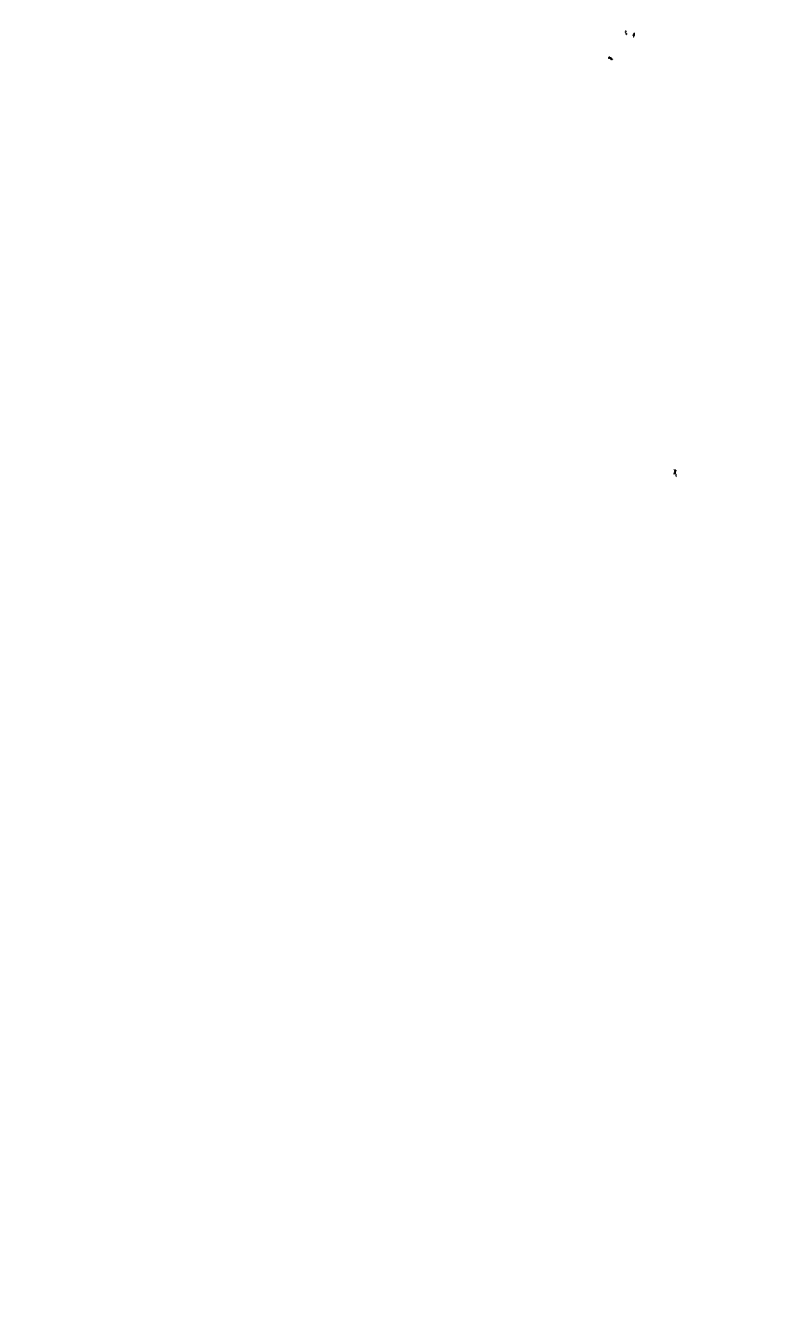
"जैन वाणी स्तुती"

जीयाज्जियात् सदा जीयात् जैनी वाणी जगत्त्रये ।
संसारतापदग्धानां, जीवानां सौख्यदायिनी ॥ १ ॥

महाधीरा च गभीरा, त्रिलोकीद्रव्यसाधिका ।
वाणी तीर्थंकृतां मान्या, देवदानवमानवैः ॥ २ ॥

अर्हद्वक्त्रप्रसूता या कर्मौघदाहन क्षमा ।
मोहक्रोधशमे मुख्या, मोक्षमार्गविधायिका ॥ ३ ॥

मन्मतिज्ञानलाभार्थं, भाषानुवादगुम्फिता ।
व्याख्याप्रज्ञप्तिः पूज्या सा पूर्णानन्द ददातु मे ॥ ४ ॥

जैनी वाणी प्रथयतु सुखं मादृशेभ्यो जनेभ्य',
'पूर्णानन्दा' जिनवरमुखे शोभमाना सदैव ।
पापासक्तैर्विनयरहितैः क्रोधमायासुवद्धैः,
सेव्या पूज्यानहि भवति या दुर्जनैः सा सतीव ॥ ५ ॥

पं. पूर्णानन्दविजय (कुमारश्रमण)

सेठ ताराचंदजी कुपाजी :–

' स्मृति '

भवभवान्तरो मे सत्कर्मों की सदुपासना कर जो भाग्यशाली मनुष्यलोक मे जन्मते है, वे जन्म से ही पवित्र, सरल, सत्य भाषी, सत्कर्मानुरागी तथा तपस्वी होते है उनमे से सेठ तारान्दजी कुपाजी (राजस्थान पाली जिलान्तर्गत विजापुर निवासी) एक थें। आजसे ४१ वर्ष के पहले माहिम (बम्बई) की दुकानपर मैं उनके यहाँ नोकरी करता था, परंतु वह नोकरी नही थी, मानो। मै अरिहंतो के शासन का ही नोकर वन रहा हूँ ऐसा मुझे आज भी बराबर याद है, और म दीक्षित बना जिसको आज ४० वर्ष भी पूर्ण हो गये। प्रतिक्षण उन सेठ का उपकार मुझे कायम रहता है।

सेठजी के सत्पुत्र श्री प्रभुलाल भाई भी अपने पिता के पथगामी है, इसका मुझे गौरव है।

आमनंद्य से सबो की कल्याण कामना करता हुआ

पं. पूर्णानन्दविजय
(कुमारश्रमण)

२०२४ बसत पचमी
पार्ले (ईस्ट)

श्री विजयधर्मसूरि-गुरुवन्दना

ख्याता ये वसुधातले यतिगुणैः सत्संयमाराधकाः,
विद्वद्वृन्दसुपूजिताध्रिकमलाः काश्यांपुरीं सर्वदा।
कृत्वाऽहर्निशमुद्यमं 'जिनवृषं' येऽस्थापयन् सर्वत-
स्ते पूज्या गुरुवर्य्यधर्मविजयाः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥ १ ॥

ये जैनागमवारिधिपारगमिनश्चारित्ररत्नाकराः,
ये कारुण्यसुधा प्रपूर्णहृदया लोकोपकारोद्यताः ।
सद्विद्याः सकला मुदा प्रतिदिनं येऽध्यापयन् सेवकां-
स्ते पूज्या गुरुसूरिधर्मविजया जीयासुरुर्वीतले ॥ २ ॥

वाराणसी विबुधसेवितपादपद्माः
सज्ज्ञानदानपरितोषित शिष्यसंघाः ।
यज्जीवितं सततमेव परोपकृत्यै,
तत्सूरिधर्मविजयांध्रियुगं नमामः ॥ ३ ॥

संस्थाप्य काश्यां शुभज्ञानशाला-
मध्यापयन् शिष्यगणान् सुविद्याः ।
परोपकाराय यदीय जीवितं
तद्धर्मपादाब्जयुगं स्मरामः ॥ ४ ॥

— पं. पूर्णानन्दविजय (कुमारश्रमण)

जगत्पूज्य, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. श्री
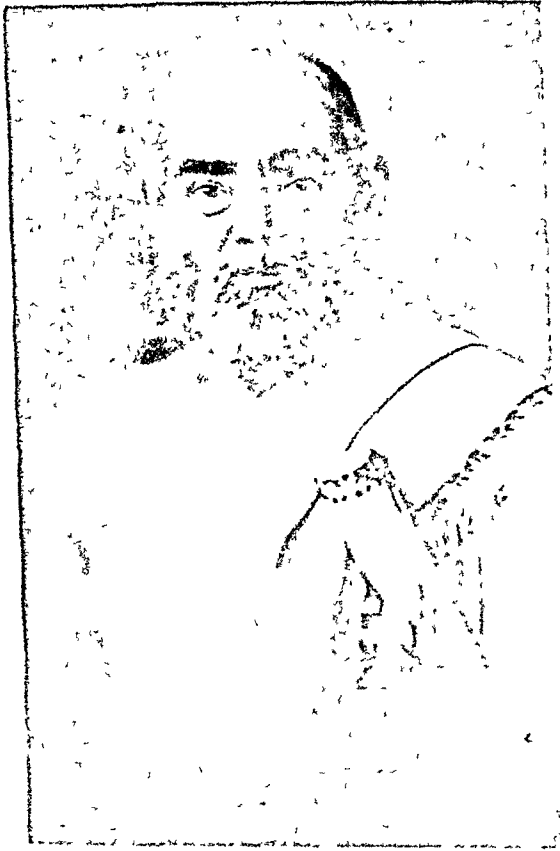
श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी

A. M. A. S B. H. M. A. S. I H. M. G. O S

जन्म सं १९२४ — महुवा

दीक्षा सं १९४३ — भावनगर

स्वर्ग गमन सं. १९७८ — शिवपुरी (म प्र)

प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल लेखक :

शासनदीपक, स्व. मुनिराज

१००८ श्री विद्याविजयजी महाराज

"स्वर्ग वि. स. २०११ मागसर कृष्णा १२ प्रात काल"

शासनदीपक श्री विद्याविजय गुरु वन्दना

आबाल्यं ब्रह्मचर्यं जिनवचनबलात् पालयन्तस्त्रिधाये,
निष्णाता आगमाब्धौ जनिमृतिभयदं मोहशत्रुं जयन्त'।
त्यक्त्वा स्वार्थं परार्थे सुविमलहृदये धर्मध्यानं दधाना.
जीयासुस्तेहि विद्याविजयगुरुवराः भूतले ज्ञानपूर्णाः ॥१॥

यद्वाचामृतपानलुब्धमनसः प्राज्ञाः सदोपासते,
ये भव्यान् प्रतिबोधयन्ति वचनैः सद्धर्मतत्त्वं मुदा।
तत्त्वातत्त्वविचारणैकपटवो विद्याब्धिपारं गताः,
ते विद्याविजया जयन्तु भुवने चारित्ररत्नाकराः ॥ २ ॥

येऽजस्रं परित्यज्य स्वार्थमखिलं लोकोपकारोद्यताः,
येषां नो हृदये सदा स्वपरता येषां कुटुम्बं जगत्।
हेयादेय समस्त वस्तु निवहं ये बोधयन्तो जनान्,
तद्विद्याविजयांघ्रिपद्मयुगलं ध्यायामि मे मानसे ॥ ३ ॥

पं. पूर्णानन्द विजय (कुमारश्रमण)

* प्रकाशकीय निवेदन *

परमपूज्य, पंन्यासजी श्री पूर्णानन्द विजयजी (कुमार श्रमण) तथा उनके शिष्य मुनिराज श्री देवविजयजी के वरद हस्तों से संस्थापित "श्री विद्याविजयजी स्मारक ग्रन्थमाला" नाम की संस्था हमारे मालवा के संघ के लिये गौरव लेने जैसी बात है।

प्रभावशाली मुखमंडल, हास्ययुक्त मुखाकृति, विरल, तथा धवल केशराशि से सुशोभित मस्तक, महावीरस्वामी की पूर्ण अहिंसा के सूचक, शुद्ध तथा पवित्र खादी के वस्त्रों से आवृत्त शरीर, मन्द तथा विनम्र चाल, शान्त तथापि सामाजिक वैदम्य से व्यथित होकर प्रलयकारी तूफान तथा प्रतिवादी के लिये अजेय व्यक्तित्व धारण करनेवाले, शासनदीपक, अद्वितीय वक्ता, पूज्यपाद, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज स्वर्गस्थ होनेपर भी जैन समाजरूपी आकाश में शुक्र के तारे के माफिक चमक रहे हैं।

"आंखों में हो तेज, तेज में हो सत्य, सत्य में ऋजुता।
वाणी में हो ओज, ओज में विनय, विनय में मृदुता॥

पूज्य गुरुदेव की आंखें तेजस्वी थी, तेज में भी सत्यता का मिश्रण और सत्य भी सरलता से ओतप्रोत था। उनकी वाणी ओजस्विनी थी, ओज में विनय था और उसमें भी मृदुता (कोमलता) थी।

उनकी शासन तथा समाज की सेवा, अहिंसा-सत्य-संयम तथा तपोधर्म का प्रचार सर्वथा निराला और प्रभावशाली था।

पूज्य गुरुदेव साटंवा की भूमि पर जन्मे, बाल्यकाल यहाँ ही पूर्ण किया और अपने मौसाल दहेगाम (अमदावाद) पधारे और एक दिन पूर्ण सयमी अच्छे शिक्षित और अद्वितीय वक्ता बनकर अपने गुरुदेव, गुरुभ्राता तथा शिष्यों के साथ साटंवा पधारे और जैन जैनेतर उनके व्याख्यान से खूब प्रभावित हुए।

ऐसे गुरुदेव की स्मृति हमारे सघ को कायम रहे, ऐसे पवित्र ख्यालातों से हमने इस सस्था की स्थापना की, फड तथा प्रचार बिना की इस सस्था का उद्देश केवल सम्यग्ज्ञान का प्रचार होने से, पूज्य गुरुदेव के हाथ से अति सक्षेप में लिखा गया तथा उनके विद्वान शिष्य, न्यायव्याकरण-काव्यतीर्थ, पंन्यासजी श्री पूर्णानन्द विजयजी (कुमारश्रमण) की कलम से विस्तृत बना हुआ यह भगवतीसूत्र सारसग्रह राष्ट्रीय भाषा में प्रकाशित करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है।

प्रस्तुत ग्रंथ की गुजराती भाषा मे दो आवृत्तिएँ प्रकाशित हो चुकी है यही इसकी उपादेयता है।

पूज्य पन्यासजी महाराज भगवती सूत्र के अधिकारी हैं, चातुर्मासिक व्याख्यानों मे भगवतीसूत्र का प्रसाद बहुत से सघो को प्राप्त हुआ है, अतः उनके हाथों से सम्पादित, विवेचित तथा परिवर्द्धित बनकर प्रकाशित होते हुए इस ग्रंथ के बारे में हमको कुछ भी नहीं कहना है। वाचकों के लिये प्रत्यक्ष यह ग्रंथ ही हमारी सस्था की तथा हमारे सघ की शोभा बढ़ाने में पूर्ण समर्थ है।

पूज्य गुरुदेव का जीवन पं. अमृतलाल ताराचंद दोसी

(व्याकरणतीर्थ) ने लिख दिया है, अतः हम उनके आभारी है।

द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ उपादेय भगवतीसूत्र जैसे गहन ग्रंथ के विवेचन कराने में स्व. श्री मनसुखलाल ताराचंद महेता आद्य प्रेरक तथा हर प्रसग में पूर्ण सहायक रहे है।

हिन्दी भाषांतर मे छपवाने के लिए छोटी सादडी (मेवाड) निवासी, दर्शनज्ञानचारित्रोपासक, श्रेष्ठिवर्य्य श्री चन्दनमलजी नागोरी प्रेरक रहे है, आज वे दोनो श्राद्धरत्न अपने सामने नहीं है, इसका हमको पूर्ण खेद है। द्रव्य सहायक भाग्यशालीओ का सहयोग ही हमको उत्साहित करनेवाला है। अतः उन उन भाग्यशालीओं को हमारा धन्यवाद है और भविष्य मे भी ऐसी उदारता के प्रार्थी हैं।

प्रेस के मालिक श्रीमान् तीवारीजीने यह काम अपना समझकर बडी शीघ्रता से पूर्ण किया है, अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में पूज्य, पंन्यासजी म. के ऋण को स्मृति मे लाकर शासनदेव से यही प्रार्थना है कि उनकी कलम से और भी साहित्य सेवा होती रहे, जिससे हमें प्रकाशित करने का सौभाग्य मिले।

मंगलप्रार्थी निवेदक,
श्री जगजीवनदास कस्तूरचंद शाह,
C/o श्री विद्याविजयजी स्मारक ग्रन्थमाला,
मु. : साठंबा (साबरकांठा)
वाया : धनसुरा,
A. P. Ry

※ संपादकीय निवेदन ※

मेरी कलम से सम्पादित, संशोधित तथा परिवर्द्धित होकर 'भगवतीसूत्र सारसंग्रह' नामका आगमिक ग्रंथ गुजराती भाषामें दो आवृत्तिओं से प्रकाशित होने के पश्चात आज वही ग्रंथ राष्ट्रीय भाषा मे प्रकाशित होने जा रहा है, यह मेरे लिये परम सौभाग्य की घटना है, व परमपूज्य गुरुदेव का असीम उपकार है।

परमोपकारी, विद्याभ्यासगी, शत्रुवत्सल, अहिंसा तथा संयम के पालक तथा प्रचारक, सिन्ध, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बंगाल, बिहार, गुजरात, सौराष्ट्र, मेवाड़, कच्छ, खानदेश, विदर्भ देश, महाराष्ट्र आदि देशो मे लगभग ७० हजार माइलों का पादविहार कर अपनी अद्वितीय व्याख्याशक्ति से सैकडों, हजारों कुटुंबों को मांसाहार, शराबपान, जुगार, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन आदि दूषणों से बचानेवाले, निडर वक्ता तथा लेखक, पूज्य गुरुदेव १००८ श्री शासनदीपक, स्व. मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराजने अपने स्वाध्याय हेतु भगवतीसूत्र जैसे अर्थ गंभीर आगमीय सूत्रपर संक्षेप से तथापि सारभूत विवेचन लगभग ३५-३६ वर्षों के पहिले लिखा था।

पूज्य गुरुदेव के स्वर्गवास होने के पश्चात लगभग १६-१७ वर्षों तक उनकी नोट बुके मेरे पास पडी रही, परंतु द्रव्य-क्षेत्र-काल तथा भाव की अनुकूलता न होने से लिखा हुआ अमूल्य

साहित्य संस्कार के अभाव मे जैसा था वैसा ही मेरे पास पड़ा रहा। तथापि अर्थगंभीर इस विवेचन को परिमार्जित तथा संस्कारित बनाकर प्रश्नोत्तरों को विशद तथा सरल भाषा मे आलेखित कर सुंदरतम स्वाध्याय जैन समाज को भेट देने का मेरा विचार था और पूना गोडीजी टेंपल ट्रस्ट के ट्रस्टीओ की प्रेरणा भी प्राप्त हुई, और लेखन कार्य का प्रारंभ हुआ, शासनदेव तथा गुरुदेव की परोक्ष सहायता प्राप्त हुई और गुजराती भाषा मे प्रथम आवृत्ति प्रकाशित हुई, पुनः दूसरी आवृत्ति भी तैयार हो रही है, तथा आज राष्ट्रीय भाषा मे अनुवादित करा कर वाचकों के करकमल में रखते हुए मुझे अतीव आनंद हो रहा है।

इस पद्धति से भगवतीसूत्र के प्रश्नोत्तरों का विवेचनपूर्ण यह ग्रंथ संभव है कि सर्वप्रथम है, यद्यपि हिंदी तथा गुजराती में इस सूत्र ऊपर बहुतसी पुस्तकें प्रकट हुई हैं, तथापि प्रायः तो मांगलिक श्लोकों में, कुछ मूल के भाषांतर में ही समाप्त होती पाई हैं। जबकि यह ग्रंथ प्रश्नोत्तरों से प्रारंभ हुआ है तथा मेरी मति के अनुसार प्रायः उन प्रश्नोत्तरों को विस्तार से लिखा है। जिससे सामान्य बुद्धि रखनेवाले गृहस्थ भी आसानी से पढ़ सकें, समझ सकें और उत्तमोत्तम स्वाध्याय का लाभ प्राप्त कर सकें।

उत्कृष्टतम साहित्य

जिसको पढ़कर, समझकर, देखकर, लिखकर व सुनकर इन्सान के अनन्त जातीय काम-क्रोध-लोभ-मद-माया आदि वैभाविक दूषणों का शमन हो, दिल तथा दिमाग में [illegible]
जीवन में शांति-समाधि तथा सम [illegible]

उसीको उत्कृष्टतम साहित्य कहते हैं।

"सहितस्यभाव साहित्य" इस व्युत्पत्ति से जो साहित्य आश्रवमार्ग का त्याग करवाकर सवर मार्ग की तरफ प्रस्थान करावे, वही साहित्य, साहित्य है। अनादिकाल से अपन सब आश्रव तत्त्व को लेकर एक दूसरे से पृथक् हुए हैं, आपस मे झगडे भी है और वैर-विरोध की रस्सी से जकड़ भी गये हैं, तथापि आश्रवमार्ग को छोडने के लिए अपन तैयार नही है, इसीसे मालूम होता है कि, संसार मे "जीव, अजीव, केवल ज्ञान, केवल ज्ञानी तथा जम्बूद्वीप की लम्बाई चौडाई की चर्चा सरल है, अति सरल है, परन्तु जीवन मे से पाप भावों को, इन्द्रियों की परवशता को तथा मानसिक वक्रताको छोडना अति दुःसाध्य है"।

ऐसी स्थिति मे सत समागम तथा सत्साहित्य का पठन-पाठन-मनन तथा निदिध्यासन ही अपने अंतरंग रोगोंको, पापोको नाबुद कराकर सवर धर्म के प्रति प्रस्थान कराने में समर्थ बनता है।

भगवतीसूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति)

इसप्रकार के सत्साहित्य मे यह प्रस्तुत ग्रंथ अत्युत्तम आगमीय (शास्त्रीय) साहित्य है, जिसमे हेय (त्यागने योग्य) उपादेय (स्वीकारने योग्य) तथा ज्ञेय (जानने लायक) तत्त्वो की भरमार है। खूब याद रखना है कि "किसी भी तत्त्व की वितडावाद-विवादपूर्वक की चर्चा किसी का भी कल्याण नही करा सकती"। किन्तु,

टीकाकार :—

इस सूत्रपर पूज्यपाद, अभयदेव सूरीश्वरजी महाराज की टीका अत्यंत विशद, स्पष्ट तथा विषयःपर्शिनी होने से सर्व ग्राह्य है।

मूलसूत्र तथा टीकापर, पंडितराज श्री बेचरदासभाई दोसी का परिश्रम सर्वग्राह्य तथा सर्वांगी सुंदर है, इतना जबरदस्त परिश्रम पडितजी को छोड़कर दूसरों के लिये लगभग अशक्य है।

पंडितराजो के सर्जनहार (सर्जक)

जैन समाज के इन सब महापडितों को आमूलचूल तैयार करने मे, अर्थात् ' रामः रामौ रामा: " से लेकर वैयाकरण, नैयायिक, आगमिक, साहित्यिक आदि महापंडितो को तैयार करने मे शास्त्र-विशारद, जैनाचार्य, नवयुग प्रवर्तक १००८ श्री विजयधर्म-सूरीश्वरजी महाराज की मानसिकी, वाचिकी तथा कायिकी वृत्ति तथा प्रवृत्ति ही मूख्य कारण है।

भारत देश का जुगजूना जमाना जब अस्ताचल पर था, तब ससारभर मे पाश्चात्य देश के पंडित, विद्वान तथा स्कोलरो का उदयकाल था, जभी तो ' अमुक बात को, इतिहास को, तत्त्व को पाश्चात्य देश के स्कोलर क्या कहते है " इन बातो को सुनने पढने और उसपर चर्चा करने के लिये सब लालायित रहते थे, उस समय मे ही जैनशासन, जैनवाङ्मय की सेवा करने का अभूतपूर्व सकल्प व पुरुषार्थ को विजयधर्म सूरीश्वरजी (मेरे दादा गुरु) ने स्वीकार किया, जिसमे बनारस (काशी) मे स्थापित जैन सस्कृत पाठशाला प्रधान थी। देश–समाज तथा धार्मिक जीवन के उत्थान मे सुयोग्य

प्रयास है, अतः विवेचन में वही भाव मैंने उतारे हैं जिनका मेरे जीवन में भरमार है।

(३) एक भी बात चर्चा में उतरने न पावे इसका ख्याल मैंने पूरा रखा है, तथापि मेरी इस उद्भुयन में शास्त्रीय दोषादि रहने पाये हो, तो वाचक वर्ग से मेरा नम्र निवेदन है कि मुझपर अनुग्रह करके अवगत करें जिससे मेरे मतिज्ञान का विकास होगा और श्रुतज्ञान की त्रुटि मिटेगी। बेशक! भाषा दोष, वाक्य दोष तथा अनुवाद दोष के लिये मै आदि से ही माफी माग लेता हूँ और एकरार भी करता हूँ कि अनुवाद जिस ढंग से होना चाहिये था, वह नही होने पाया है और उसको सुधरवाने के प्रयास में भी मेरा प्रमाद जिम्मेदार है।

स्वर्ग में विराजमान सेठ चन्दनमलजी नागोरी (छोटी सादडी मेवाड) का मै अहेसान मानता हूँ कि मेरे पर वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर मुझे ऐसी गहराई मे उतारा है, अतः उनकी स्मृति को मै कभी भी भूल नही सकता।

प्रस्तुत ग्रंथ मे पांच शतक का समावेश किया गया है, आगे के ६ से ११ शतक तक गुजराती मे दूसरा भाग प्रकाशित हो चूका है, तीसरे भाग के लिए मेरा प्रयत्न चालू है।

गुरुदेव की कृपा होगी तो दूसरे भाग का भी हिन्दी अनुवाद वाचकों के करकमल में रखने की इच्छा करुंगा।

द्रव्य सहायक सबके सब महानुभव यश के भागीदार है, मेरा उनको पुनः पुनः धर्मलाभ है।

साईनाथ टाइपोग्रॉफी (प्रिंटिंग प्रेस) प्रेस के मालिकों को मेरा धन्यवाद है, जिनकी सज्जनता से वह ग्रंथ इतना शीघ्र छपा है,

अन्त मे शासनमाता पद्मावती देवी को मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि मुझे कुछ न कुछ शुभ प्रवृत्ति में सहयोग देती रहे।

मुं. पूर्णानन्द विजय (कुमार श्रमण)
C/o श्री चिंतामणी पार्श्वनाथ पेढी,
४१ महात्मा गांधी रोड,
पार्ले (इस्ट) बम्बई ४०० ०५७.

विक्रम सं. २०३४
पौष शुक्ला पूर्णिमा.
ता. २४-१-७८

प्रयास है, अतः विवेचन मे वही भाव मैने उतारे है जिनका मेरे जीवन मे भरमार है।

(३) एक भी बात चर्चा में उतरने न पावे इसका ख्याल मैने पूरा रखा है, तथापि मेरी इस उद्भुयन मे शास्त्रीय दोषादि रहने पाये हो, तो वाचक वर्ग से मेरा नम्र निवेदन ह कि मुझपर अनुग्रह करके अवगत करें जिससे मेरे मतिज्ञान का विकास होगा और श्रुतज्ञान की त्रुटि मिटेगी। बेशक! भाषा दोष, वाक्य दोष तथा अनुवाद दोष के लिये मै आदि से ही माफी मांग लेता हूँ और एकरार भी करता हूँ कि अनुवाद जिस ढंग से होना चाहिये था, वह नही होने पाया है और उसको सुधरवाने के प्रयास मे भी मेरा प्रमाद जिम्मेदार है।

स्वर्ग मे विराजमान सेठ चन्दनमलजी नागोरी (छोटी सादडी मेवाड) का मै अहेसान मानता हूँ कि मेरे पर वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर मुझे ऐसी गहराई मे उतारा है, अतः उनकी स्मृति को मै कभी भी भूल नही सकता।

प्रस्तुत ग्रंथ में पाच शतक का समावेश किया गया है, आगे के ६ से ११ शतक तक गुजराती मे दूसरा भाग प्रकाशित हो चूका है, तीसरे भाग के लिए मेरा प्रयत्न चालू है।

गुरुदेव की कृपा होगी तो दूसरे भाग का भी हिन्दी अनुवाद वाचकों के करकमल मे रखने की इच्छा करूंगा।

द्रव्य सहायक सबके सब महानुभव यश के भागीदार है, मेरा उनको पुनः पुनः धर्मलाभ है।

साईनाथ टाइपोग्रॉफी (प्रिंटिंग प्रेस) प्रेस के मालिकों को मेरा धन्यवाद है, जिनकी सज्जनता से यह ग्रंथ इतना शीघ्र छपा है,

अन्त मे शासनमाता पद्मावती देवी को मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि मुझे कुछ न कुछ शुभ प्रवृत्ति मे सहयोग देती रहे।

मं. पूर्णानन्द विजय (कुमार श्रमण)
C/o श्री चितामणी पार्श्वनाथ पेढी,
४१ महात्मा गांधी रोड,
पार्ले (इस्ट) बम्बई ४०० ०५७.

विक्रम सं. २०३४
पौष शुक्ला पूर्णिमा.
ता. २४-१-७८

सूत्र को बहुधा संघ समक्ष मे वांचन होता है, केवलज्ञानी का एक एक वचन अमूल्य होता है. जिसको सुवर्ण के समान समझकर धनवान तथा श्रद्धालु जैन प्रश्न प्रश्नपर सुवर्ण मोहर या चांदी का रुपया रखकर सूत्र को सूनते हैं।

यह सूत्र हाथी समान बहुत ही बड़ा है, जिसमे ४१ शतक (विभाग) है और प्रत्येक शतक के उद्देशे है, १०० से ज्यादा अध्ययन, १० हजार उद्देशे, ३६ हजार प्रश्न तथा दो लाख अठ्यासी हजार पद सख्या है। महावीर स्वामी के निर्वाण होने के पश्चात् स. ९८० अथवा ९९३ वर्ष मे श्री देवार्द्धि क्षमाश्रमण के आधिपत्य मे आगमों को लिपिबद्ध करने का महाभारत जैसा कार्य करने में आया, उस समय जूदे जूदे आगमों की जो रचना हुई, उसके अनुसार यह भगवतीसूत्र है, इसीलिये वर्तमान समय मे उद्देशक तथा पदों की सख्या पूर्ववत देखने मे नही आती है।

प्रत्येक धर्म ग्रंथ के दो विभाग है, एक विभाग उपदेश का तथा दूसरा सिद्धान्त का, उपदेश ग्रंथो में सामान्यरित्या इन्सान मात्र को वैराग्यादि भाव उत्पन्न होवे वही बाते चर्ची गई है, जो समझने में सरल होती है, उत्तराध्यनादि सूत्र का समावेश उपदेश ग्रंथो मे होता है।

ज्ञान के सागरसम इस भगवतीसूत्र मे यद्यपि गणितानुयोग की प्रधानता है, तो भी द्रव्यानुयोग–चरितानुयोग तथा कथानुयोग के पाठमौक्तिक भी पूर्ण रूप से दिखाई दे रहे है, इसप्रकार इस सूत्र मे उपदेश तथा सिद्धांत का सयोग होने से ही यह सूत्र ज्यादा उपादेय, श्रद्धेय तथा पूज्य बना है।

इन्सान को वेदना--आघात तथा व्यथा क्यों भुगतनी पडती है ? इसकी चर्चा बहुत ही सुंदर प्रकार से तीसरे शतक के सातवें उद्देशे मे पू. पं. श्री पूर्णानन्द विजयजीने करते हुए स्पष्ट कहा है कि "क्रियाजन्य कर्म तथा कर्म जन्य वेदना होती है" मुनिवेष को धारण करने के बाद भी प्रमादवश होकर मुनिराज भी उपयोग-शून्य बनकर खाने पीने मे, गमनागमन करने मे, सोने--उठने तथा बैठने मे यदि भूल करेगे तो निर्णयात्मक रूप से भगवतीसूत्र साक्षी देता है कि, कर्मबंधन तथा ससारचक्र की वृद्धि होगी।

"चरित्रयोग का स्पष्टीकरण" शीर्षक मे विस्तृत टिप्पण करते हुए पू. मुनिराजश्रीने अनासक्त भाव से जीवन जीनेपर भार डालते हुए कहा कि :-"जीवन मे से पुद्गलों का त्याग नही करना है परंतु उनके प्रति रही हुई दुराचार अथवा अति उपयोग की भावना छोडनी है। श्रीमताई तथा सत्ता छोडने की नही है परंतु साध्य भावना का त्यागकर उनके प्रति साधन भावना पैदा करनी है—जनक राजा के पास वैभव का पार नही थी फिर भी वे 'विदही' कहलाये, इसका कारण यही है कि, जैसे कमल जल के मध्य मे रहा रहा हुआ भी सर्वथा अलिप्त रहता है, उसी प्रकार ससार मे रहते हुऐ भी अलिप्तभाव बना रहे. तो वही एक उच्चकोटी की साधना है, गृहस्थ भी इस साधना को अलिप्त भाव से कर सकता है।

इन्द्रलोक की तीन सभाओं का वर्णन करते बताया है कि, देवलोक मे देवों के समान देवीये भी सभासद पद सुशोभित करती

है। और वहॉ पर देवीयों का भी देवों के तुल्य बहुमान करने मे आता है। इसकी चर्चा करते हुए पू. पंन्यासजीने सत्य ही कहा है कि 'मातृस्वरूपा स्त्री को नीच गिनने का प्रयोजन क्या है ? क्या वे पुरुषो से बुद्धिबल मे कमजोर है ? इत्यादि कल्पनाओं मे पुरुषजात की स्त्रीओं के प्रति जबरदस्ती के सिवाय दूसरा क्या कारण हो सकता है ? क्योंकि स्त्री और पुरुष के मध्य मे मूलभूत तफावत कुछ भी नही है उसमें रहा हुआ स्त्रीत्व या पुरुषत्व तो केवल देहदृष्टि से है परंतु आत्मदृष्टि से तो स्त्रीकी आत्मा और पुरुष की आत्मा एक सी है।

श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह की प्रस्तावना लिखने का मुझे रतिमात्र भी अधिकार नहीं है। यह बात मैं अच्छी तरह से समझता हू। फिरभी इस अनधिकार चेष्टा करने का संक्षेप से खुलासा कर देता हूं. आज से पचीस वर्ष पहले ई. स. १९५० मे श्री जैन श्वेतांबर एज्युकेशन बोर्ड की 'आगम विभाग' की परीक्षा मे मै बैठा था. और उत्तीर्ण भी हुआ था, उस समय इसके अभ्यास-क्रममे भगवतीसूत्रसार, उत्तराध्ययनसूत्र तथा कल्पसूत्र इस प्रकार ये तीन ग्रन्थ थे. 'भगवतीसार' यह पुस्तक तो भगवतीसूत्र का छायानुवादही था। अत: इसके बल पर इस भगवतीसूत्र सारसंग्रह की प्रस्तावना लिखना 'सूंठ के टूकडे पर गांधी (कीराणे के व्यापारी) बनने जैसी बालिशता है, तथापि सत्यार्थ यह है कि, मैं जब आठ वर्ष की उम्र का था उस समय मे सबसे प्रथम ही मैं शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज जिन्होंने संसार के पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानो मे ज्ञान की गंगा बहाकर अनेक

कोटि के साधु भगवत तथा पंडित रत्नों की भेट जैन समाज को दी है। उन आचार्य पुंगव के तथा उनके समुदाय के मुनिराजों के परिचय मे मैं आया। सन १९१५ में उन आचार्यदेवने अमरेली मे चातुर्मास पूर्ण किया था, उसके बाद उनके शिष्यरत्न. आ. श्रीविजयेन्द्रसूरिजी, तथा श्रीविद्याविजयजी के साथ मेरा संपर्क सतत रहा है।

पचीस वर्ष के पहले पूज्य, विद्याविजयजी महाराज को वंदन करने हेतु शिवपुरी गया था, उस समय उनके प्रशान्त शिष्य पू. पं. श्री पूर्णानन्दविजयजी महाराज से मेरा परिचय हुआ, वे उस समय न्याय–व्याकरण–काव्यतीर्थ की परीक्षा के लिये तैयारी कर रहे थे, उसके बाद तो दिन प्रतिदिन हमारा सबंध बढता गया, तथा सपर्क भी चालु रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने के लिये प्रेम-भावसे उन्होने मुझे आज्ञा की जिसका उल्लघन नही करने के कारण यह प्रस्तावना लिखने की अनधिकार चेष्टा मेरे से हो गयी है। संभव है कि इसमे कुछ शास्त्रविरुद्ध या अन्य कोई दोष रहा हो तो वाचको की मै क्षमा चाहता हूँ और वे भी बडा दिल रखकर मुझे क्षमा करे यही मेरी नम्र विनती है।

स्व. मनसुखलाल ताराचंद महेता
(गुजराती परसे हिन्दी अनुवाद मैं)

प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल लेखक

शासनदीपक, मुनिराज की जीवनी

गुजरात प्रान्त, साबरकांठा जिल्ला, बायड तालुका के अन्तर्गत साठंबा नाम का गाम है। इसी गाम मे पूज्य गुरुदेव का जन्म हुआ था। नाम बेचरदास था, उनके पिताजी साठंबा राज्य के कर्मचारी होते हुए भी प्रामाणिक, न्यायपूर्ण, दयालु, सत्यभाषी और नम्र स्वभाव के होने से राज्य की तमाम जातिओं मे वे सन्मानित थे। ठाकोरसाहेब का प्रेम अच्छी तरह से संपादित किया हुआ होनेसे बेचरदास का बाल्य व पठनकाल माता पिता के प्यार मे पूर्ण हुआ था, परंतु अनित्य संसार में सबों की स्थिति नश्वर होने से एक दिन माता पिता का वियोग भी बेचरदास के भाग्य मे आया और उनको दहेगाम मे अपने मामा मामी के यहां पर रहना पडा।

पूर्वभव की संयमी आत्मा ही वर्तमानभव मे संयमी जीवन पसंद करता है "इस न्याय से कौटुम्बिक जीवनमे कुछ खटपट होनेसे बेचरदास का आंतरमन कुछ निराला मार्ग ढूंढने के चक्र मे था। उसी समय मे उसने सुना कि 'विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराजने बनारस काशी में संस्कृत विद्यालय का प्रारंभ किया है। तब बेचारदास दो प्रतिज्ञाओ को कर दहेगाव की भूमि को अंतिम अंजलि देकर विदाय होता है।

(१) या तो बड़ा भारी श्रीमंत बनकर दहेगाम का पानी लूंगा

(२) या जरूर विद्वान–वक्ता बनकर साधुत्व स्वीकार करने के पश्चात इस भूमि का पानी लूंगा ?"

लगनी थी, पढ़ने का आंतर उत्साह था, हृदगाम में दी हुई प्रतिज्ञा प्रशिक्षण स्मृतिपट पर थी, गुरुदेव का वात्सल्य था, सहपाठिओं से स्पर्धा थी, तभी तो गुरुचरण की सेवा के परम॰ पुजारी बेचरदास को व्याकरण, काव्य, न्याय आदि का अभ्यास करने मे देर न लगी।

परंतु कोरे व्याकरण व सर्वथा निरस दर्शन शास्त्रों की जटिलता से उनका मन तृप्त न हुआ, क्योंकि ये विषय तो केवल वाद–विवाद को जन्म देनेवाले है, जबकि इस संसार को 'संवाद' से मतलब है, अत: बेचरदासने गुरु सेवा के माध्यम से 'वक्तृत्व' का अभ्यास व विकास खूब अच्छी तरह से किया और दिन-प्रतिदिन सफलता की तरफ आगे बढते गये।

कलकत्ता शहेर में विजयधर्मसूरीश्वरजी के चरणो मे दीक्षित हुए और 'मुनिराज श्री विद्याविजयजी' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

चढ़ती जुवानी के ये युवामुनि गुरुसेवा के पूरे हिमायती थे, शासन के रंग मे रंगे हुए थे, तथा मौनिता समितिगुप्तिधार्मिकता, वाक्संयमिता, ब्रह्मचारिता के साथ भावदयापूर्ण मानस के जरिये उनका व्यक्तित्व भी अजेय, निरभिमान तथा कोमल होने से उनकी वक्तृत्व कला पूर्णिमा के चॉद के माफिक पूर्ण रूप से विकसित हुई।

यद्यपि विजयधर्मसूरीश्वरजी के चरणो मे भिन्न भिन्न शक्तिओं के धारक अनेक मुनिराज थे तो भी यह समुदाय जिस गाम व शहेर मे जाता वहॉ की ऑखें सबसे पहले विद्याविजयजीको ढूंढने में

स्थिर होती थी. उनोका भाषण सुनने के लिए जनता तत्पर रहती थी।

पू. गुरुदेव का व्याख्यान कोरा व्याख्यान, वाचालता या जनरंजन नही था, किन्तु मानव जीवन मे से असत्य, हिंसा, दुराचार तथा भोगलालसा मिटे और सत्य-अहिंसा-सदाचार तथा तपोधर्म का प्रादुर्भाव होवे यही गुरुजी के जीवन का मूल मंत्र था, तभी तो हजारो मानवो को शराब पान, मास भोजन, परस्त्री गमन, वेश्यागमन व जुगार आदि से मुक्ति दिला सके थे।

कच्छभद्रेश्वर के मेले मे आई हुई विशाल जनता मे व्याख्यान के अवसर पर विद्याविजयजी महाराजने दूसरे मुनिओ को भी थोडा बोलने को कहा. तब एक मुनिजीने व्याख्यान का प्रारंभ किया और जनता मे से अवाज उठी की 'हजारों की सख्या मे हम सब दूर दूर से विद्याविजयजी महाराज को सुनने के लिये आये है' यह थी उनकी व्याख्यान शक्ति। उसके पहले दिन वीतराग भगवान के मंदिर की भमती मे किसी मनचले जुवान ने एक मुर्ति की असभ्य मश्करी की, यह बात जब विद्याविजयजीने सुनी तब तो उनका पुण्यप्रकोप सात आसमान तक चढ गया तथा व्याख्यान के समयपर उनकी जीभपर माता सरस्वती देवी भी बिराजमान होकर सिंहनाद से पुकार उठी थी कि ऐसे नरपशु के मस्तक पर यदि यह सुवर्ण की जंग लगा देती तो यह धर्म तथा न्यायमार्ग था तब हजारो की संख्या मे तालीओं की गडगडाहट से सभा मंडप गूंज उठा था।

अपने गुरुजी के अन्तिम श्वासतक उनकी सेवा

रहकर अपना बाह्य तथा आभ्यन्तर जीवन इस प्रकार से बनाना था, जिससे सामाजिक आंधी तूफान में. विरोध विचार रखने वालों के बीच मे भी पूज्य श्री विद्याविजयजी म हसमुख रहे है यही कारण है कि उनके जीवन मे हताशा, निरुत्कण्ठा, भयग्रस्तता, प्रमादिता तथा सामनेवालों का प्रतिकार या प्रतिशोध करने का भाव किसी को कभी देखने मे नही आया। तभी तो सिन्ध जैसे देश मे जाकर अपनी सत्प्रवृत्तिओ के माध्यम से अहिंसा प्रचारादि जो कुछ भी किया है उसीसे गोरी सल्तन के गवरनरो से लेकर सब कोई उनको सुनने के वास्ते अपना भाग्य समझते थे। कच्छ प्रदेश मे देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी का जन्म जयंती महोत्सव जो मांडवी मे माधव महाराज की अध्यक्षता मे सम्पन्न किया वह कच्छ देश के लिये सर्वथा अद्वितीय था. यह सब प्रसंगोचित बाते गुरुजीकी लिखी हुई 'मारी सिन्ध यात्रा', 'मारी कच्छ यात्रा' नाम की पुस्तके पढने से ही मालूम हो सकती है। सौराष्ट्र की भूमिपर पधारते ही अपवाद को छोडकर सबके सब छोटे बडे राजाओने गुरुजी का स्वागत तथा उनके व्याख्यान सूने थे.

सूरीसम्राट नाम का हिन्दी-गुजराती तथा अंग्रेजी मे लिखा गया पुस्तक उनके ऐतिहासिक ज्ञान का परिचायक है। जैनत्व, जैन ज्ञान तथा अहिंसा धर्म का प्रचार भारत के कोणे कोणे मे हो यही गुरुजी का मूलमंत्र था। कभी कभी विरोधीओं का हस्तक्षेप भी कारणरूप बनता था परंतु ये सब विरोध उनके लिये निष्फल थे।

अपनी अध्यक्षता मे चलती हुई शिवपुरी पाठशाला मे एक पाश्चात्य स्कोलर गुरुजी के पास कुछ जैनधर्म की चर्चा करने के

लिये आया था, वह जैन फिलोमी का नामांकित स्कोलर था। उस समय ग्वालियर नरेश 'माधवराव की अध्यक्षता मे उसका भाषण रखा गया था, टाऊन हॉल पूर्णरूप से भर चुका था. इनके भाषण के पश्चात गुरुजी को भी पाच मिनिट के लिये ही बोलने का अवसर मिला, भाषण स्टेजपर आये हुए गुरुजी का विराट सभाने तालीओ से स्वागत किया और गुरुजीने 'भारत के साधुओं का पतन कैसे हुआ ? इस विषय पर बोलने का प्रारंभ किया, प्रसग प्रसगपर जनता की तालीओं से चमत्कृत हुए राजाजी को पाच मिनिट के बदले ५५ मिनिट कब हुई उसका भी पता न चलने पाया। विषय का प्रतिपादन करते हुए गुरुजीने कहा कि पवित्रतम साधु सस्था का अधःपतन जो आज देखने मे आ रहा है उसमे ज्यादा हिस्सा श्रीमंतो का तथा राजाओं का रहा है। क्योंकि श्रीमंताई तथा राज्यसत्ता इन दोनों तत्त्वों मे वह शराब का नशा भरा है जिससे उनकी स्वार्थान्धता को लेकर देश के सर्व नाश को अपने प्रत्यक्ष देख रहे है, इन दोनों का गठबंधन ही एक ऐसी शरारत है जिससे सदाचार-अहिंसा आदि की एक भी समस्या का हल होने नही पाता है।

"यतिने काञ्चनंदत्वा ..." इन वैदिक तथा जैन मन्त्रों को ठुकराकर जैन तथा वैदिक समाजने साधुओं को बेशुमार द्रव्य दिया. रहने को अच्छे बगले दिये। खानपान मे बढिया से बढिया माल मसाला दिया, उसको पचाने के लिये भांग, गांजा, चरस, तमाखु आदि मादक पदार्थ भी दिये, श्रीमंतोने तथ राजाओंने साधु को पास बैठाकर ये सब दिया, पिलाया...और

देश के आध्यात्मिक उत्थान में मौलिक कारण रूप साधु संस्था कमजोर हुई, अधःपतित बनी, तथा उनके इसारेपर नृत्य करने लगी....मुझे याद है कि ७५ मिनिट के तक धारावाही व्याख्यान मे सैकडोवार तालिओं के आवाज से गूंजा हुआ टाउन हॉल ग्वालीयर नरेश को नूतन ज्ञान देने मे पूर्ण समर्थ बना था, जभी तो सभा समाप्ति के बाद माधव महाराजने पूज्य गुरुजी को अपनी भुजाओं में समेटते हुए कहा कि जिन्दगी में प्रथम वार ही मुझे सचाई का ज्ञान प्राप्त हुआ है और चरणस्पर्श करते हुए राजा अपने स्थानपर चले गये तथा गुरुजी अपने आश्रम मे आये।

अभूतपूर्व ज्ञान के खजाने के मालिक पूज्य गुरुजी का पार्थिव शरीर शिवपुरी की भूमि में विलीन हुआ और यशशरीर अभी भी चक्कर लगा रहा है।

जय गुरुदेव।

२०३४
माह सुदि १.

पं. अमृतलाल ताराचंद दोसी
(व्याकरणतीर्थ)

विषयानुक्रमणिका

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

नमो नमः श्री प्रभुधर्मसूरये

ॐ ह्रीं अर्हं नमः

सूत्र परिचय

णमो अरहंताणं ।

णमो सिद्धाणं ।

णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं ।

णमो सव्वसाहूणं ।

णमो बंभीए लिवीए ।

णमो सुअस्स ।

टीकाकार के मंगलाचरण के पश्चात् सूत्रकार, पंचमगणधर श्री सुधर्मास्वामीने भगवतीसूत्र के प्रारंभ में पंचपरमेष्ठी भगवंतो को नमस्कार रुप मंगलाचरण किया है। उसका भावार्थ यह है :

"मैं अरिहंतो, सिद्धो, आचार्यों, उपाध्यायों तथा सर्व साधु भगवंतो को द्रव्य और भाव से नमस्कार करता हूं।"

प्रथम पद मे अरहंत, अरूहंत तथा अरिहंत ये तीनों शब्द व्याकरणसूत्र से सिद्ध होते है।

(१) अरहंत अर्थात जो जन्म मे ही इन्द्रो, असुरों तथा नरपतिओं से पूज्य है, और निश्चय से सम्पूर्ण कर्मो को नाशकर जो सिद्धिपद प्राप्त करेंगे अथवा 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञ' इस व्युत्पत्ति से तीनों लोक तथा तीनों काल के किसी भी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने मे जिसके ज्ञान मे किसी भी प्रकार का अंतराय नहीं है वे अरहंत कहलाते है।

(२) अरुहंत अर्थात् जिनका कर्मबीज सर्वथा क्षय हो जाने से ससार मे पुन जिनका जन्मधारण नहीं होता है वे अरुहंत हैं।

(३) अरिहंत अर्थात् सर्वथा दुर्जेय भावशत्रुओं को जिन्होंने जीत लिया है और उसके पश्चात केवल ज्ञान प्राप्त महापुरुष ही अरिहत देव कहलाते है।

साकार अरिहत देवों को नमस्कार करने का कारण बतलाते हुए टीकाकार कहते है कि, अनन्त दु खों से परिपूर्ण ससार मे भयभीत बने हुए जीवात्माओं को अनत सुखों का स्थान रूप सिद्धि प्राप्ति का मार्ग बतलानेवाले होने से अरिहत अरुहंत तथा अरहंत नमस्कार-वन्दन करने योग्य है।

सम्पूर्ण कर्मो का समूल नाशकर जो सिद्ध शिला मे विराजमान है तथा अनन्तज्ञानादि चतुष्टय के स्वामी बने हुए होने से सब जीवों का 'नामाकृतिद्रव्यभावै' द्वारा अनुपम उपकार करनेवाले होने मे निराकार सिद्ध भगवत नमस्कार के योग्य है।

आगमों के सूत्रार्थज्ञाता, विनयसंपन्निधारक, गच्छनायक ऐसे आचार्य भगवंत स्वयं ज्ञानाचार दर्शनाचार चारित्राचार तपाचार तथा वीर्याचार नाम के पांचो आचारों को पालन करनेवाले तथा संघ के पास पालन करानेवाले है, अत. सब के ऊपर उनका महान उपकार होने से आचार्य भगवंत सदैव स्मरणीय तथा वन्दनीय है।

जो शिष्यों को सम्यग्ज्ञान देनेवाले है जिनके पास से इन्सान मात्र को जैनत्व का भान होता है और जैनशासन में स्थिर बनता है पत्थर जैसे प्राणी को नरम बनाने की क्षमता रखनेवाले उपाध्याय भगवंत अवश्यमेव आराधनीय है।

जो निर्वाणपद की प्राप्ति के लिये अपने मन-वचन तथा काया को समाधिमय बनाते है। सम्पूर्ण जीवों पर समतायोग धारण करनेवाले है वे भावमुनि कहलाते है! ऐसे अढीद्वीप मे स्थित पञ्चमहाव्रतधारी सब वन्दनीय है।

यहाँपर सर्व शब्द से अढीद्वीप में रहनेवाले जैन शासन की आराधना मे समाहित बने हुए, सामायिकादि विशेषणयुक्त, प्रमत्तादिक, पुलकादिक, जिनकल्पिक, स्थविर कल्पिक, प्रतिमाधारी आदि सर्व मुनिराज जो भरत क्षेत्र मे, मारवाड मे, गुजरात सौराष्ट्र मे, महाराष्ट्र तथा पंजाब में, ऐरावत तथा महाविदेह क्षेत्र मे जहां कहीं भी विचरते हो उन सबों को भाववन्दना है। सर्व शब्द का यह विशाल अर्थ जो भगवतीसूत्र को मान्य है। सारांश, 'अपने ही गच्छ मे, समुदाय मे स्थित साधु साध्वी वन्दनीय है' यह संकु

भगवतीसूत्र को मान्य नहीं है परन्तु प्रत्येक आचार्यों के पास, उपाध्यायों के पास '(जावंत केविसाहू ......) रहे हुए सब मुनि वन्दनीय है, मोक्ष मार्ग के सहायक प्रेरक मुनिराज अवश्यमेव शरण के योग्य हैं।

इसप्रकार परमेष्टीओं को किया हुआ वन्दन ही सर्वश्रेष्ठ भावमंगल है, पापनाशक है तथा सब मंगलों में परममंगल है, इसीलिये पंचपरमेष्ठी नमस्कार जैनशासन की सार है।

ब्राह्मी लिपि यद्यपि द्रव्यश्रुत है, तथापि भावश्रुत को प्राप्त करने मे समर्थ साधन होने से द्रव्यश्रुत भी वन्दनीय है! क्योंकि द्रव्यक्रिया को करते करते ही भावक्रिया प्राप्त होती है। अतः द्रव्य-क्रिया, द्रव्यपूजा आदि के विधानो का बहुमान करना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। द्रव्यवेषधारक मुनि को देखकर जैसे अपने को जैनत्व का भान होता है, उसीप्रकार अत्यंत उपकारी द्रव्यश्रुत भी वन्दनीय है।

इसप्रकार पूरे सूत्र के लिये मंगलाचरण करने के पश्चात् अब भगवतीसूत्र के प्रथमशतक की शुरुआत में द्वादशांगी रुप श्रुतज्ञान को नमस्कार करते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान अर्हत् प्रवचन रुप होने से मांगलिक है।

समवसरण में विराजमान तीर्थंकर परमात्मा भी "नमो तित्थस्स" कहकर तीर्थ को (श्रुतको) नमस्कार कर देशना देते है। तो फिर अपने लिये तो श्रुतज्ञान वन्दनीय बने इसमे कौनसा आश्चर्य है? तारयतीति तीर्थम् "जो संसारसमुद्र से तारने मे

समर्थ है वह तीर्थ हैं अतः श्रुतज्ञान ही तीर्थस्थानीय होने से वंदनीय है। इसीलिये कहा जाता है, 'ज्ञान ने वंदो ज्ञानीन निंदो, ज्ञानीए शिव सुख चाखियुं रे.. ।'

भगवतीसूत्र के प्रथम शतक में दस उद्देश हैं। उनका प्ररूपण कहाँ पर हुआ? इनका विषय क्या है? इसका कथन निम्न-लिखित गाथा मे है।

"रायगिह चलणदुक्खे कंखपओसे य पगइ पुढवीओ।
जावंते नेरइए वाले गुरुए य चलणाओ॥

अर्थात् राजगृही नगरी मे, १ चलन, २ दुख, ३ कांक्षाप्रदोष, ४ प्रकृति, ५ पृथ्वी, ६ यावत, ७ नैरयिक, ८ बाल, ९ गुरुक और १० चलनादि। इसप्रकार दस विषयों का अर्थ प्रकाशित है।

प्रश्नोत्थान

भगवतीसूत्र के पहिले सूत्र मे मंगलाचरण, दूसरे में अभि-धेय-कथनीय वस्तु का नामोल्लेख करने के पश्चात तीसरे सूत्र में भगवान ने कहाँ पर देशना दी? श्री गौतम स्वामी के प्रश्नों के उत्तर दिये? उसका कथन है फिर गौतम स्वामी ने सविनय प्रश्न पूछे है वह बताया गया है, इससे ज्ञात होता है कि–

राजगृही नगरी के बाहर, उत्तर-पूर्व अर्थात ईशान कोण स्थित गुणशील चैत्य मे समवसरण की रचना हुई तथा भगवान उसमें विराजमान होकर इन्द्रभूति गौतम के प्रश्नों का उत्तर दिया है मूलसूत्र मे उस समय राजगृही नगरी मे श्रेणिक नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम चिल्लणादेवी था। "सेणिय राया चिल्लणादेवी"। *

---

* अनतज्ञान के स्वामी देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी को केवल ज्ञान होने के बाद, तीसरे भव मे उपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का उदय होता है, अद्वितीय अतिशयो की महासपत्ति से परिपूर्ण भगवान समवसरण मे विराजमान होकर भूत भविष्य तथा वर्तमान काल से सबधित मर्त्यलोक, अधोलोक तथा उर्ध्वलोक मे रहे हुए नवतत्त्वसबधी किसी समय पूछे गये तथा किसी समय नही पूछे गये तत्त्वो का व्याकरण–स्पष्टीकरण करते है। चार ज्ञान के स्वामी तथा भगवत चरणो के अनन्य भक्त श्री गौतम स्वामी आदि अपने ज्ञान की वृद्धि के लिये पर्षदा मे भव्यजीवो के कल्याण हेतु प्रश्न करते है।

गणधर भगवान सुधर्मा स्वामी जो, देवाधिदेव महावीर स्वामी के शासन की पाटपरपरा के आद्य महापुरुष है, १४ पूर्व के ज्ञाता तथा रचयिता

प्रश्नकार गौतम स्वामी का परिचय इस प्रकार दिया गया है, जो भगवान महावीर स्वामी के बडे शिष्य, गौतम गोत्रवाले, सात हाथ का ऊंचा शरीर, समचतुरस्र सस्थानवाले, वज्रऋषभनाराच-संघयण के मालिक, उग्र तपस्वी, उदार घोर ब्रह्मचारी, चतुर्दश पूर्वो-के ज्ञाता और चार ज्ञान के स्वामी थे।

श्री गौतम स्वामी भगवान को प्रश्न करते हैं, तब उनके दिल के भावो का तथा विनय का वर्णन सूत्र मे इस प्रकार किया है:—

श्रद्धापूर्वक गौतम स्वामी अपने स्थान मे खडे होकर,

होने से भगवान महावीर स्वामी ने जो भी दिव्य उपदेश दिया उसको अप्रमत्त होकर वर्णगोचर किया और वैराग्य से परिपूर्ण अपने मुख्य शिष्य जम्बूस्वामी को सुनाया, इसलिये ये चारो महापुरुष अत्यन्त पूजनीय, श्रद्धेय, ध्येय होने से जिनवाणी का एक भी अक्षर पूज्यतम है क्योंकि अनन्त पर्यायो से पूर्ण दृश्यमान तथा अदृश्यमान पदार्थो का स्पष्टीकरण केवली भगवान के बिना दूसरा कोई भी पंडित नही कर सकता है।

जो एक भी पदार्थ को सम्यक् प्रकार से जान नही सकता वह इन अनन्त पदार्थों को कैसे जानेगा? क्योंकि इस संसार मे अनन्तानन्त जीव है, अनन्तानन्त पुद्गल है, स्कन्ध है, असंख्यात द्वीप है, असंख्यात समुद्र है और एक एक द्रव्य मे अनन्त अनन्त पर्याय है, इन सबका सम्यग् ज्ञान केवल ज्ञान होने के पश्चात् ही हो सकता है। इस गौतमस्वामी, दूसरे गणधर, [illegible] तथा [illegible] आदिओं से पूछे हुए प्रश्नो के जवाब द्वादशांगी मे [illegible] से पूर्ण, श्री भगवतीसूत्र मे पूछे हुए होने से [illegible] [illegible] है, [illegible] है, इस भगवतीसूत्र [illegible] द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, [illegible] तथा [illegible] के [illegible] पूर्ण मात्रा मे विद्यमान है।

भगवान महावीर स्वामी के नजदीक आते हैं, भगवान को तीन प्रदक्षिणा देते हैं, वन्दन करते हैं, नमते हैं बहुत नजदीक नहीं, बहुत दूर नहीं विनयपूर्वक अपने ललाट पर हाथ जोड़कर प्रश्न पूछते हैं !

इसमें बहुत शतक हैं। एक एक शतक में अमुक–अमुक उद्देशे हैं और प्रत्येक उद्देशे में बहुत से प्रश्न हैं।

शतक पहिला
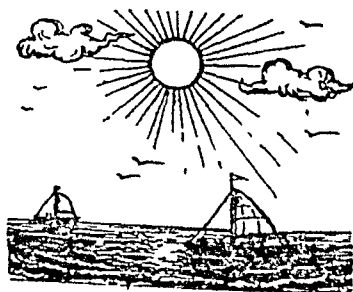
उद्देशक—१

मोक्षतत्त्व

प्रथम शतक के प्रारंभ मे ये मुख्य बाते है ! अब उसके प्रथम उद्देश के प्रारंभ मे अभिधेय के अनुसार 'चलन' सबंधी प्रश्नोत्तर का प्रारंभ होता है।

इस उद्देश के प्रारंभ में दो प्रश्नोत्तरों मे मोक्षतत्त्व का निरूपण करने मे आया है यद्यपि स्पष्टरूप से इसमे मोक्षतत्त्व नही दिखता है तो भी उसका रहस्य मोक्षतत्त्व की तरफ ले जाता है।

वर्तमानकाल में जो क्रिया हो रही है उसमें भूतकाल का प्रयोग कर 'क्रिया' हो गई, ऐसा कह सकते हैं क्या ? यह इस प्रश्न का उद्देश है। इस सबंध मे नौ प्रश्न है।

१ चलते हुए को 'चला' कह सकते हैं ?
२ उदीर्यमाण को 'उदीरित' कह सकते हैं ?
३ वेदन होनेवालों को 'वेदित कह' सकते हैं ?
४ पड रहे को 'पडा' कह सकते हैं ?
५ छेदन होनेवालों को 'छिन्न' कह सकते हैं।
६ भेदन होनेवालों को 'भिन्न' कह सकते हैं ?
७ जलते हुए को 'जला' कह सकते हैं ?
८ मरते हुए को 'मरा' कह सकते हैं ?
९ निर्जरते हुए को 'निर्जीर्ण' कह सकते हैं ?

इन नौ प्रश्नों का जवाब भगवान महावीर स्वामीने 'हाँ' में दिया हुआ है। अर्थात चलते हुए को 'चला' तथा उदीर्यमाण को 'उदरित' कह सकते है।

भगवान महावीर स्वामी का सिद्धान्त (जैनशासन) अनेकान्तवाद पूर्ण है। पदार्थमात्र मे पृथक्-पृथक् अनेक दृष्टि विद्यमान होने से पदार्थमात्र अनन्तपर्यात्मक है। उस दृष्टिसे ऊपर का वाक्यप्रयोग सत्य है। अतः चलता हुआ 'चला' उदीर्यमाण 'उदीरित' कहते है। यह वाक्यप्रयोग निश्चय दृष्टिसे सत्यपूर्ण है। जब व्यवहारनय मे प्रारंभ किया हुआ कार्य जबतक पूरा नहीं होता है, तबतक उसको 'चला' आदि नहीं कहा जाता है।

भगवान महावीर स्वामी के भगिनी पुत्र जमाली के सिद्धान्त का इसमे प्रतिवाद निहीत है। क्योंकि, उसका सिद्धान्त एकही दृष्टि को लेकर निश्चित था। जब दूसरी दृष्टि से पदार्थ का निर्णय करने मे उसकी क्षमता नहीं थी। जभी तो भगवान के सिद्धान्त से पृथक् उसने अपना सिद्धान्त चलाया था।

एक समय रोगग्रस्त बने हुए जमाली ने अपने शिष्यों को पथारी (सथारा) करने के लिये कहा! थोडी देर में शिष्यों से पूछा- 'क्यों पथारी हो गई?' यद्यपि उससमय पथारी की जा रही थी। फिर भी निश्चयनय का आश्रय लेकर शिष्यो ने कहा की, 'हॉ पथारी हो गई है।' जमाली वहाँपर जाता है और पाथरने की क्रिया अभी चालू है। फिर भी भूतकाल के प्रयोग से क्षुण्ण बना हुआ जमाली महावीर के वचनों में अश्रद्धालु बनता है और अपना पंथ अलग जमाता है।

बुद्धि में जब वैपरित्य आता है। तब चाहे कितनी ही सादी बात हो, तो भी समझने में नहीं आती है, जमाली जैसे बहुश्रुत को भी समझने मे न आया कि : 'कपडे का एक किनारा जल रहा हो तो भी कह सकते है की कपडा जल गया' कपडा बुनने का प्रारंभ हो गया है। फिर भी बुनकर (कपडा बुननेवाला) कहता है की कपडा कितना सुंदर बन रहा है। यद्यपि यहाँपर कपडा (वस्त्र) पूरा जल नहीं गया है। और वस्त्र अभी पूर्णरूप से तैयार नहीं हुआ है। तथापि, निश्चय दृष्टि को ख्याल में रखकर पूरा ससार इसीप्रकार से भाषा व्यवहार करता ही है। व्यवहारनय की बात अलग है। ज्वरग्रस्त इन्सान को अच्छा मिष्ठान्न भी बुरा लगता है। इसीप्रकार मिथ्यात्वग्रस्त इन्सान को भी सीधी-सादी बात दिमाग मे समझ नहीं आती है। ※ २

※ २ पदार्थमात्र का सही निर्णय करने में दो दृष्टिओं का उपयोग करना आवश्यक है। क्योंकि पदार्थ का स्वभाव ही तथाप्रकार का होने से ज्ञाता का अभिप्राय किसी समय निश्चयनय से पदार्थ का निश्चय करने का होता है तो दूसरे समय उसी पदार्थ का निश्चय व्यवहारनय से किया जाता है, इसलिये संसार में किया जानेवाला भाषाव्यवहार सर्वथा असत्य नहीं होता है। साडी का एक कोना ही जल रहा है। फिर भी नमस्कार का [illegible] अनिश्चित पर ही आवाज से कहता है कि, "साडी जल गई" अथवा 'आपने मेरी साडी जला दी' भोजन बनाने की अभी शुरुआत ही हुई है। फिर भी स्टोव पर से धर्मपत्नी की आवाज आती है कि, 'भोजन तैयार हो गया है, जीमने पधारना!'

इसप्रकार का, [illegible] जैसा दूसरी [illegible] में भाषाव्यवहार [illegible] अर्थात् [illegible], [illegible], [illegible] [illegible]

बाह्यदृष्टि से इस प्रश्नोत्तर में यद्यपि जमाली के मत का निराकरण किया गया है। तो भी तात्विक दृष्टि से मोक्षतत्व भी इसमे समाहित है। टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजी भी इसप्रकार कहते है कि–

चारों पुरुषार्थ में 'मोक्ष' नाम का पुरुषार्थ ही मुख्य है, और इस मोक्ष के साधन सम्यग्दर्शनादि है। मोक्ष के विपक्ष-विरुद्धपक्ष का क्षय होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्मों का

स्थान से मोक्ष की कल्पना करनेवाले सब के सब सत्य मानते है और सत्य मानकर उसप्रकार से व्यवहार भी करते है ! मूल बात यहहै कि किसी भी उत्पाद्य कार्य के लिये निमित्तकारणो का एकत्र होना तथा उस कार्य का उपादान कारण भी यथ योग्य तैयार हो तो कार्य के प्रारम्भ काल में ही प्रत्येक इन्सान को विश्वास हो जाता है कि 'कार्य हो गया' अत क्रियमाण को 'कृत' दह्यमान को 'दग्ध' आदि भाषा से बोला जाता है और इसप्रकार के भाषा व्यवहार को निश्चयनय से सत्य माना जाता है। जब इसी बात को व्यवहार नय दूसरे प्रकार से कहता है की, कार्य की पूर्णता को प्राप्त किया हुआ घडा जब पानी भरने के काम मे आये। बुनकर का तैयार हुआ कपडा दरजी को देने मे काम आये और उसके द्वारा बनाई हुई कमीज-टोपी कुरता इन्सान के पहिनने के काम मे आये तब काम हुआ ऐसा व्यवहारनय मानता है।

इसप्रकार उत्पाद्यकार्य मे दोनो दृष्टिए सत्यस्वरूप से सन्निहित है। परतु स्थूल बुद्धि का मालिक, तथा पूर्वग्रह से ग्रस्त जीवात्मा को ध्यान में न आवे तो पदार्थों के स्वरूप का तथा उनको देखने की अलौकिक दृष्टि का दोष नही है।

बन्ध ही विपक्ष है। इसबात का ख्याल रखकर ही कर्मों के क्षय निमित्त 'चलमाणे चलिये' इत्यादि पद कहे हैं-अर्थात् भगवतीसूत्र के आदि का सूत्र कर्मक्षय का सूचक है, इसीलिए उसको आदि मे रखा है। 'चलमाणे' इसमे चलन्—स्थिति के क्षय होनेपर उदय में आना अर्थात् विपाकरूप (फल का देना) परिणाम के लिये अभिमुख हुआ कर्म, 'चलितम्' अर्थात् उदय में आया। इसप्रकार का व्यपदेश होता है। कर्म पुद्गलों के भी अनन्त-स्कन्ध, अनन्त देश, अनन्तप्रदेश हैं। इससे वे कर्म अनुक्रमे-प्रतिसमये उदय में आते रहते हैं उसमें जो प्रारंभ का चलते हुए कर्मों को 'चले' इसप्रकार कहा जाता है।

इस दृष्टि से इस प्रश्नोत्तर मे 'मोक्षतत्त्व' रहा हुआ है। *३

---

*३ मिथ्या दर्शन.विरति प्रमादकषाय योगा बन्ध हेतव।

ऊपर के पाचो कारण, अथवा उनमे से एक-एक कारण भी नूतन कर्मो का बन्धन करानेवाला होता है।

मिथ्यादर्शन का क्षयोपशम, अथवा उपशम करने की शक्ति (करण लब्धि) जबतक आत्मा को प्राप्त नही होती है, तबतक जीवात्मा को आत्म-दर्शन का लाभ मिलता नही है। ऐसी स्थिति मे अविरति, (पापस्थानको के त्याग का अभाव) प्रमाद, कषाय, (अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ का उदय अथवा उदीरणा) योग (मन-वचन-काया की चपलता) की विद्यमानता अवश्यभाविनी है। जिसके कारण प्रतिसमय कर्मबन्धन होता रहता है।

मानवीय जीवन में गुणस्थानो की मजबूताई जब नही होती है, तब यासनोपेत नम्र होकर की आन्तरिक जीवन में कृष्ण-नील तथा कापोत

मिथ्या का जोर कम नहीं होता है। ऐसी स्थिति में जूने जूने निमित्तों को लेकर आत्मा का वैषयिक–कापायिक, यौगिक आदि वैकारिक भाव भी बढ़ता है। तब कर्मों का प्रवाह भी अविच्छिन्न चालू रहता है। इसीप्रकार जूने कर्म भी अपनी स्थिति (मर्यादा) के क्षय होने पर उदयावलिका में प्रविष्ट होते हुए प्रथम समय से ही चलने अर्थात आत्मप्रदेशों से अलग होने लगते हैं। सब चलायमान कर्मों को निश्चयनय की भाषा में 'चला' कह सकते हैं।

उदीरणा का अर्थ इस प्रकार है—बंधे हुए कर्म भविष्य के लंबे काल मे जो उदय आनेवाले है। उन कर्म दलिकों को सद्ध्यान, स्वाध्याय तथा सात्विक तपश्चर्या रूप आत्मा के शुद्ध अध्यवसायो से खींचकर उदयावलिका में प्रवेश करवाना। उसको जैनशासन में उदीरणा कही जाती है, जो आत्मा की विशेष शक्ति है।

सत्यार्थ यह है कि, जैसे एक इन्सान अशुभ तथा अशुद्ध विचारधाराओ को लेकर प्रति समय कर्म दलिकों को उपार्जन करता रहता है। जब दूसरा इन्सान सम्यग् दर्शन की शुद्धि द्वारा, अष्ट प्रवचन माता के पालन द्वारा, तथा राग-द्वेष-कषाय-विकथा आदि प्रमाद से दूर रहता हुआ, और मन-वचन तथा काया से प्रतिक्षण परमात्मा के ध्यान मे लीन बनकर वह भाग्यशाली अपनी शुभ तथा शुद्ध प्रक्रिया के माध्यम से जूने कर्मों का क्षय करता रहता है। आत्मा से असयमित मानसिक बल कर्मो के उपार्जन मे कारण बनता है। जब ज्ञान-दर्शन चारित्र सम्पन्न आत्मा से सयमित मन कर्मो के नाश का कारण बनता है।

बंधे हुए कर्मो का उदय दो प्रकार से होता है –

(१) अमुक समय की मर्यादा लिए हुए कर्म अपना समय पूरा होने पर अपने आप उदय मे आते है।

(२) वैराग्यपूर्ण जीवन जीनेवाला, ईश्वर के ध्यान मे तथा उनकी

आज्ञा में मस्त बननेवाला भाग्यशाली आत्मा अपने सद्ध्यान द्वारा उदीरणा करण से मर्यादा पहले ही बहुत से अनिकाचित कर्मों को उदय मे लाकर— अर्थात् कर्मों के फल को भुगते बिना ही अपने आत्मप्रदेश से उनको निर्जरित करता है। इन दोनो प्रकार से वेदे-भुगते जानेवाले कर्मो को 'वेदाया' (वेदित) कहने मे निश्चय दृष्टि से हरकत नही है।

दूध तथा शक्कर के समान आत्मा के साथ मिश्रित हुए कर्म अपने आप या उदीरणा के द्वारा आत्मप्रदेशों से छूटे पडे अर्थात् छूट जाने का जब से प्रारम्भ करे तब 'कर्म छूटे' ऐसा कह सकते है।

दीर्घकाल पर्यन्त की मर्यादावाले कर्मो को 'अपवर्तना' नामकरण से कम मर्यादा में लाने को 'छिन्न' कहते है। अर्थात छेदन क्रिया के प्रारम्भ मे ही कर्मो का छेद हुआ कहते है।

अप्रमत्त अवस्था को लेकर आत्मा मे एक अजोड शक्ति आती है। जिससे दीर्घकालीन कर्मो को अल्पकालीन तथा अशुभ कर्मो मे रसकी तीव्रता को पश्चात्ताप 'प्रायश्चित्त' तथा आलोचना के माध्यम से तीव्र फल देने वाले कर्मो को भी 'अपवर्तना' करण से मन्द रसवाले किये जाते है।

तात्पर्य यह है कि—शुभ तथा शुद्ध भाव मे स्थित आत्मा प्रतिसमय शुभ कर्मो को तो बांधता ही है। साथ साथ उत्पन्न हुई शुभ भावना से पहिले के बांधे हुए अशुभ कर्मो को भी मन्दरस वाले कर देता है। और भावना की शक्ति यदि ज्यादा बढ जावे तो कर्मो को समूल नाश करता है। उससे विपरीत हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह आदि अशुभ भाव मे रात दिन मग्न बनकर जीवात्मा प्रतिसमय अशुभ कर्मों का संग्रह करता रहता है। उसके साथ ही पहिले के बांधे हुए शुभ कर्मों को भी अशुभ बनाता है।

'जलता हुआ जला' अर्थात अग्नि मे जले हुए काष्ठ, अपने काष्ठत्व को छोडकर जैसे भस्मस्वरूप बनते है, उसीप्रकार शुभ तथा शुद्ध ध्यान रूपी आग

मे जले हुए कर्म रूप काष्ठ भी जलकर समाप्त होते है।

'मरता हुआ मरा' अर्थात आवीचिक मृत्यु मे यह जीवात्मा अपने जन्म के प्रथम समय से ही आयुष्य कर्म के दलिकों को भुगत रहा है। और बराबर ७० वर्ष की आयु मे कर्म का आखिरी अश भुगतकर मृत्यु पाता है। व्यवहार दृष्टि से भले ही अपन कहे कि यह इन्सान ७० मे वर्ष मे मरा, परन्तु इस आयुष्य कर्म के दलिक (प्रदेश सख्या) एक ही साथ ७० वे वर्ष मे नही भुगते जाते है। परन्तु गर्भ मे आने के साथ ही प्रतिसमय आयुष्य कर्म का भुगतान चालू हो जाता है। और ७० वें वर्ष मे अन्तिम प्रदेश का भुगतान होते ही इन्सान अपने जीवन की लीला समाप्त करता है। इस प्रकार बाधा हुआ आयुष्य कर्म प्रति समय क्षय हो रहा है।

परवशता के कारण इच्छा बिना भूख-तरस सहने पडे, ब्रह्मचर्य पालने की इच्छा न होते हुए भी सयोगवशात् पालना पडे, इत्यादि बिना इच्छा की परेशानिया भुगतनी पड, इसकारण से भी कर्मों का क्षय होता है। उसे अकामनिर्जरा कहते है।

जब गुरुसेवा, धर्मश्रवण, ज्ञान, विरति तथा प्रत्याख्यान आदि धार्मिक कृत्यो को श्रद्धापूर्वक करता हुआ इन्सान परवश या दरिद्र होने पर भी भूख-प्यास आदि परेशानिया समतापूर्वक सहन करता है। अकृत्यो को जानबूझकर छोडता है, तथा अपने आत्मधर्म में स्थिर होकर पूर्वभवीय पाप तथा अन्तराय को जानबूझकर भुगतता है। उसको सकाम निर्जरा कहते है। तथा श्रीमताई होनेपर भी भोग्य तथा उपभोग्य पदार्थो को सयमित तथा मर्यादित करता है और जीवन मे प्रतिसमय बधाते हुए निरर्थक पापो को रोकता है। वह श्रीमत भी सकाम निर्जरा का स्वामी बनता है।

उपर्युक्त नवे पदो मे भिन्न-भिन्न व्यजन तथा स्वर होने पर भी वे समानार्थ है ? या भिन्नार्थ ? इसके उत्तर मे भगवान ने कहा है कि –

१ चलता हुआ चला।

२ उदीर्यमान हुआ उदीर्ण हुआ।

३ वेदन होता हुआ वेदित हुआ।

४ पटता हुआ पडा।

उत्पाद नाम के पदार्थ को कहनेवाले ऊपर के चारो पद समानार्थ है। और वह उत्पाद पर्याय केवल ज्ञान ही है। क्योंकि अनन्त ससार मे भटकते हुए जीवात्मा को केवल ज्ञान नाम का पदार्थ प्राप्त नही हुआ है, अत कर्मो के नाश होने पर केवल ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्ति ये दो फल प्राप्त होते है। कर्मो के नाश मे ये चारो पद समानार्थ इस प्रकार है। अपनी स्थिति (मर्यादा) के क्षय होने पर कर्म अपने स्थान से चलते है, अर्थात् उदय मे आते है। उदय मे आनेवाले कर्मो का वेदन (अनुभव) होता है। और भुगते हुए कर्म आत्मप्रदेशो से सर्वथा छूटे पडते है।

जब पीछे के पाच पद भिन्नार्थ इस तरह है। 'छेदाता हुआ छिन्न' इस पद में स्थिति बंध की विचारणा है। क्योंकि सयोगी केवली अपने अतकाल मे योग निरोध करने की इच्छा से वेदनीय, नाम तथा गोत्र कर्म की दीर्घस्थिति को अपवर्तनाकरण से अन्तर्मुहूर्त की कर लेता है। 'भेदाता हुआ भिन्न' इसमें रसबध की विचारणा है। जिस समय स्थिति घात होता है, उसी समय रस घात भी होता है। 'जलता हुआ जला' इसमें प्रदेश बध की विचारणा है। और 'मरता मराया' इसमें आयुष्य कर्म की विचारणा है। जब आखिरी पद मे सब कर्मो की निर्जरा की विचारणा है।

इस प्रकार पाचो पदो मे भिन्न-भिन्न अर्थ होने से इन्हें भिन्नार्थ कहा जाता है।

**

भ सू.-२

मोक्षतत्त्व का निरूपण करने के पश्चात् तीसरे प्रश्न में जीवों के संबंध में वर्णन किया गया है। जीवों के २४ भेद इस प्रकार से हैं।

१	नैरयिक	१	मनुष्य
१०	असुरकुमारादि	१	व्यन्तर
५	पृथ्वीकायादि	१	ज्योतिष्क
३	द्वीन्द्रियादि	१	वैमानिक
१	पंचेन्द्रिय तिर्यंच		२४

इसप्रकार जीवों के २४ भेद होने से, प्रत्येक भेद को लेकर प्रश्नोत्तर दिये हुए हैं। जैसे कि, नैरयिक–नरक में रहनेवाले जीवों की स्थिति (आयुष्य मर्यादा) कितने काल की? श्वास का काल कितना? वे क्या आहारार्थी हैं। कितने प्रकार के पुद्गल वे आहार में लेते है? वे कितने प्रकार के पुद्गलों का चयन करते है? उदीरणा कितनों की करते है? आदि अनेक प्रश्नोत्तर नैरयिक संबंधी है। ❀ ४

❀ ४ सूक्ष्म निगोद से लेकर इन्द्र तक के अनतानत जीवो का २४ दडक में समावेश किया है। 'दण्डयतेजीवोऽस्मिन्ननेन वा इति दण्डक"

इसमें भी सर्वप्रथम नरक स्थानीय नारक जीवो को लेकर प्रश्न और जवाब है। ये और इसके जैसे दूसरे प्रश्नोत्तरो से निष्कर्ष निकलता है कि, नरकादि भूमिएं है। तथा उसमें जानेवाले, अपनी आयुष्य मर्यादातक वहाँ पर रहनेवाले जीव भी अनादिकाल से है और अनतकाल तक रहेंगे। तथा किसी भी क्षेत्र से चारो गतिओ मे जानेवाले, और चारो गतिओ में से निकल

कर फिर मे खडपट्टी करनेवाले जीव भी है। किसी भी काल मे ससार का सर्वथा नाश जैन शासन को मान्य नही है। तथा उसका कोई उत्पादक है। ऐसी मान्यता भी जैन धर्म की नही है।

नरक शब्द का अर्थ टीकाकार इसप्रकार से करते है 'चला गया है' इष्टफल देनेवाला कर्म जिस स्थान से वह नरक भूमि कहलाती है, तथा उनमें उत्पन्न होनेवाले जीव नारक-नैरयिक कहे जाते है।

असंख्यात जीवो के साथ वैर-क्रूर-पापकर्म-चौर्यकर्म-मैथुनकर्म तथा रौद्र ध्यानपूर्वक की हुई हिंसा आदि निकृष्टतम पापकर्मों को भुगतने के लिये यह स्थान है। ऐसे पापकर्मी आत्मा को सुख-शान्ति-समाधि कैसे मिले? नारक जीव नरकभूमि में कितने कालतक रहते है ? उसका जवाब—

उत्कृष्ट स्थिति			जघन्य स्थिति	
१	सागरोपम	प्रथम नरक भूमि	१०	हजार वर्ष
३	,,	दूसरी नरक भूमि	१	सागरोपम
७	,,	तीसरी नरक भूमि	३	,,
१०	,,	चौथी नरक भूमि	७	,,
१७	,,	पाचवी नरक भूमि	१०	,,
२२	,,	छठी नरक भूमि	१७	,,
३३	,,	सातवी नरक भूमि	२२	,,

इतनी लम्बी आयुष्य मर्यादा को भुगतनेवाले इन नारकजीवो को एक समय भी सुख नहीं मिलता है। अपने किये हुए पापो से अत्यन्त दुःखी होने के कारण उनकी [illegible] सदा [illegible] रहती है। निरन्तर दौड़ते रहते हैं। अतितीव्र क्षुधावेदनीय कर्म के कारण नारकजीव जो प्रति समय आहार लेते है, वह अनाभोगिक आहार कहा जाता है और इच्छापूर्वक 'मै आहार करू' वह आहार अन्तर्मुहूर्त मे लिया जाता है। वह आभोगिक आहार है।

इसीप्रकार असुरकुमार-नागकुमार-पृथ्वीकायिकादि संबंधी प्रश्नोत्तर है। जिसमे स्थिति-श्वास-आहार-आहार का समय आदि बात हैं। द्वीन्द्रियादि मनुष्यादि वर्णन तथा व्यंतरादि के धर्म संबंधी प्रश्नोत्तर है। उसके बाद 'आत्मरंभादि' का निरूपण किया है।

आत्मरंभादि

आत्मारंभ का अर्थ है 'जीवों की आश्रय द्वार में प्रवृत्ति ! उसमें आत्मा को जो प्रारंभ (जीव का उपघात-उपद्रव करना) अथवा आत्मा के जरिये स्वयं आरंभ करे वह आत्मारंभ कहलाता है और दूसरे को अथवा दूसरे के जरिये जो आरंभ किया जाता है। वह परारंभ कहा जाता है। यहाँपर जीव आत्मारंभ है? परारंभ है। तदुभयारंभ है? या अनारंभ है? इस विषय मे बहुत ही सुंदर विचार किया गया है। उसके बाद नैरयिको के आत्मारंभादि भेद बताये ये है। ※ ५

इन सब बातो का सविस्तृत वर्णन प्रज्ञापना सूत्र में है और वही से जानने के लिए टीकाकार की सलाह है।

नारक जीवो कि तरह असुरकुमार-नागकुमार पृथ्वीकाधिक जीवो की आयुष्य मर्यादा, आहाराभिलाषा, आदि बाते प्रकरण ग्रन्थो से जान लेना।

※ ५ अनादिकाल से आश्रव-तत्त्व की उपासना करनेवाले जीवात्मा के मानसिक वाचिक तथा कायिक व्यापार मे संरभ-समारंभ तथा आरंभ ये तीनो आश्रव विद्यमान रहते ही है।

मन म सदैव क्रोध—मान—माया तथा लोभ संबंधी काषायिक विचार बने रहे वह संरभ है। मन की काषायिक भावनाओ से प्रेरित होकर दूसरे

जीवो के घात के लिये, तथा अपने खुद के अध पतन या आत्महनन के लिये इस प्रकार की शस्त्र सामग्री तथा कुसग-असदाचार आदि पोषक सामग्री एकत्र करनी, उनको समारम्भ कहते है। और जीव हत्या कर लेने को आरम्भ कहा जाता है। ये तीनो आश्रव कृत-कारित तथा अनुमोदित रूप ३X३ = ९ प्रकार का होता है। मन-वचन तथा कायारूप कारण से ९X३ = २७ और चारो कषायो को मिलाकर २७X४ = १०८ भाग से आश्रव तत्व जैन शासन को मान्य है। माला के १०८ मणको का आशय यही है कि माला के एक एक मणके पर साधक को एक एक आश्रव स्मृति मे रहे कि आश्रव सर्वदा, हेय तत्त्व ही है। कहा भी है, 'आश्रवो भवहेतु स्यात्।'

परन्तु 'बुद्धि कर्मानुसारिणी' इस न्याय से दुर्बुद्धि के वशवर्ती आत्मा या अत्यन्त पतन बना हुआ मानसिक व्यापार इस जीवात्मा को बलात्कार से आरम्भादि कर्मों मे जोड देता है। अथवा दुर्भव्य या आनेवाले भव मे नरक गति का अधिकारी आत्मा स्वयमेव जानबूझकर आत्मारम्भादि कार्यो मे फसता है। तभी तो "मै भले ही भिखारी बनू, परन्तु तुझे तो सर्वप्रथम पायमाल करूगा" इसप्रकार की हिंसकी और रौद्री भावना दिल मे बनी रहती है। प्रश्न के उत्तर का साराश यह है कि, मुक्तिगत जीवो को कर्म का व्यापार न होने से वे अनारम्भी है। जब ससारवर्ती जीवात्मा जो अप्रमत्त है- अर्थात् अपने आत्मिक विचारधाराओ मे से राग-द्वेष-विषयवासना-राजकथा-देशकथा-भोजनकथा-स्त्रीकथा आदि पाप व्यापारो को जिन्होने निकाल दिया है। अथवा उदय मे आनेवाले उन भावो को अपनी मोक्षगामिनी पुरुषार्थ शक्ति से दबा दिया है। वे अनारम्भी है और प्रमत्त होनेपर भी गुरुकुल वास मे स्थिर होकर अपने अच्छे भावो मे जो उपयोगपूर्वक रहते है। वे भी अनारम्भी है।

जब सम्यग्धारी होते हुए भी जिनके मन-वचन तथा काया, रसगारव, ऋद्धिगारव और सातागारव मे आसक्त है। तथा अशुभ प्रवृत्ति-वृत्ति मे आदर है। वह मुनिराज भी आत्मारंभी-परारम्भी और तदुभयारम्भी बनते

ज्ञानादि के भेद

अब ज्ञानादि संबंधी प्रश्नोत्तर भी विचारणीय है। ज्ञान-दर्शन (सम्यक्त्व) तथा चारित्र ये तीनों रत्न ऐहभविक-पारभविक-तदुभय भविक है। यह प्रश्न है। इसमें से ज्ञान तथा दर्शन ऐहभविक पारभविक तथा तदुभयभविक है। जब चारित्र को ऐहभविक कहा है। तप भी चारित्र की तरह ऐहभविक है। तीनों के अर्थ निम्नलिखित है।

ऐहभविक–जो ज्ञान इसी भव में साथ रहता है।

पारभविक–जो ज्ञान वर्तमान भव के बाद भी दूसरे भव मे भी साथ आवे।

तदुभयभविक–भवान्तरों में जो साथ आता है। इसमे ज्ञान तथा दर्शन को तीनों प्रकार से बतलाने का कारण यह है कि ये दोनों ज्ञान दर्शन इस भव मे प्राप्त किये है। वे आगामी भवों मे भी आत्मा के साथ जा सकते है। परंतु चारित्र आनेवाले भव

है। परतु अनारभी–अर्थात् आरभविना के नही बनते है। द्रव्य सयम के स्वामी बनने पर भी जब तक साधक भावसयम के प्रति प्रस्थान करने मे सशक्त नही है। तबतक वह साधक सरभ समारभ तथा आरभ का त्याग नही कर सकता है। सम्पूर्ण आरभो को करानेवाली अविरति होती है। इसलिये एकेन्द्रीयादि जीवो से लेकर सब जीव तारतम्य को लेकर आरभवाले ही होते है।

कृष्ण-नील तथा कापोत लेश्याके स्वामी जीवमात्र भाव सयमी नही होने के कारण आत्मारभी, परारभी तथा तदुभयारभी होते है। परतु अनारभी नही होते है।

में सहचारि नहीं होता है। क्योंकि जो चारित्र इस चालू भव में स्वीकारा जाता है। उसी चरित्र से दुसरे भव में जीव चरित्रवान नहीं बनता है। कारण यह है कि चारित्र की प्रतिज्ञा यावज्जीव तक की है। दूसरी बात यह है कि, सर्वविरति या देशविरति चारित्रवंत की गति नियमा देवलोक की होती है। और वहाँपर चारित्र का प्रयोजन कुछ भी नहीं है। "सिद्धे नो विरत्ति" अर्थात् चारित्र क्रियारुप होने से और मोक्ष में शरीर का अभाव है। अतः अनुष्ठानरुप चारित्र वहाँ पर नहीं होता है। ※ ६

असंवृत संवृत अणगार

कर्मों के आने को-आश्रवद्वार को जो अणगार (संयमी) न रोके वह असंवृत अणगार कहा जाता है। उसके विपरीत जो मुनि आश्रव मार्ग का निरोध करे वह संवृत अणगार कहा जाता है। ये दोनों प्रकार के मुनि सिध्द होते हैं? बोध पाते है? संसार से मुक्त होते हैं? निर्वाणपद-प्राप्त कर सकते हैं? यह प्रश्न है। भगवान ने असंवृत-असंयत साधु के लिये निषेध फर्माया है, जब संवृत-संयमी साधु के लिए 'हाँ' कही है।

※ ६ इस भव में प्राप्त हुआ सम्यग् ज्ञान आनेवाले भव में साथ न जावे वह इहभविक कहा जाता है। भवान्तर में भी साथ जावे वह पारभविक है। तथा तीन-चार भवान्तरों में उसके संस्कार बने रहे वह उभयभविक है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के लिये भी जानना। जब देशविरति धारक या सर्व विरतिधारक देवलोक में जानेवाले होते हैं और वहाँ पर व्रत-नियम-प्रत्याख्यान नहीं होते है। इसप्रकार अशरीरी सिद्धपरमात्मा को भी चारित्र साथ नहीं होने से चारित्र इहभविक कहा जाता है।

आखिरी में असयत जीव के लिये प्रश्नोत्तर है, असंयत अर्थात् असाधु अथवा सयमरहित–प्राणातिपातादि विरति रहित जीवात्मा यहाँ से जीवनलीला समाप्तकर 'देव' बनता है ? यह मुख्य प्रश्न है।

पर्षदा को संबोधित करते हुए भगवंत ने कहा कि, कितने देव होते है और कितने देव नहीं होते है। ऐसा क्यों ? जवाब में प्रभु ने कहा है कि, जो जीव गांव-नगर-आकर आदि में रहकर अकाम तृषा, अकाम क्षुधा, अकाम ब्रह्मचर्य, अकाम ठंडी-गरमी मच्छर आदि का उपद्रव सहन करते हैं। आत्मा को क्लेपित करते हैं। वे मरकर वाणव्यंतरादि देवलोक में उत्पन्न होते हैं। अर्थात् साधु नहीं होते हुए भी सयमरहीत-जीवन संपन्न करते हुए भी जो अकाम कष्टों को भुगतते है। तब वे वाणव्यंतर देवयोनि में जन्म ले सकते हैं। जहाँपर जघन्य से १० हजार और उत्कृष्ट से पल्योपम की आयुमर्यादा है। ※ ७

※ ७ साराश यह है कि, आश्रव तथा सवर ये दोनो तत्त्व से जीवमात्र ससार के साथ बधता है और ससार मे मुक्त होता है। इसीलिये "आश्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम् " यह सिद्धवचन ही भव्य पुरुषो मे जागृति लानेवाला है।

तूफानयुक्त घोडे की उपमावाली स्पर्शेन्द्रिय, रसेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा श्रोत्रेन्द्रिय ये पाचो इन्द्रिये यदि आत्मा मे सयमित नही होती तो यह जीवात्मा इन्द्रियवश बनकर प्रतिसमय-नये-नये पापो को उपार्जन करेगा। चारो कषाय-हिंसा-झूठ-चोरी-मैथुन तथा परिग्रह जो बडे से बडे पाप है, उनका त्याग नही कर सकेगा। तथा जिसके ऊपर सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्

चारित्र की छाया पडी नही है। वैसा मन-वचन तथा काया से भी वह जीवात्मा प्रतिसमय पाप भावनामें, पापी भाषामें तथा पाप व्यवहार में मस्त वना हुआ अगनित पाप ही उपार्जन करेगा। दूसरो को भी पापमार्ग में धकेलेगा तथा पाप करनेवालों को ही अच्छा मानेगा। यह सव आश्रव तत्त्व कहलाता है। जो ससारवृद्धि का कारण है। घरवार-पुत्रपरिवार का त्यागकर सयम स्वीकारा हुआ साधक यदि आश्रव मार्ग का त्याग नही करता है। तथा आर्य देश, आर्यखानदान में जन्म लेकर जो श्रीमत-सत्ताधारी गृहस्थ महावीर स्वामी के शासन की मर्यादा में नही आते हैं। वे श्रीमत सत्ताधारी भी भयकर से भयकर पापकर्मों को उपार्जनकर आनेवाले भवो में अत्यन्त दुःख देनेवाली असाता वेदनीय कर्म सत्ता को वाधते है, वृद्धि करते है। जिससे उनका ससार अत्यन्त दुःखप्रद वनने के उपरान्त प्रत्येक भव में भयकर असाता, भूख, तरस दारिद्रय, माता-पिता का वियोग तथा विवाहित जीवन त्रासदायक वन जाता है।

जव गृहस्थाश्रमीओ के संसर्ग से दूर रहकर आत्मसाधना में मस्त रहनेवाला मुनि, तथा गृहस्थाश्रम में रहनेवाला गृहस्थ सम्यक्त्व को स्वीकार करे और अपनी परिस्थितिवश श्रावकधर्म का पालन करे। व्रत-नियम तथा पच्चक्खाण में श्रद्धा रखे तो गृहस्थ भी नूतन पापो के द्वार वदकर पुराने पापो को भी धोता जाता है और भवातर में साता वेदनीय का वधनकर के भव-भवातर में सुखी वनता है।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी की अमृतमयी देशना को सुनकर गौतम स्वामी तथा पर्षदा सतोष पाती हुई पुन पुन देवाधिदेव भगवत महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार अपने अपने स्थान में जाती है। ॐ

॥ उद्देशा प्रथम समाप्त ॥

शतक पहिला — उद्देशक-२

कर्मभोग

प्रथम उद्देश में चलनादि धर्मयुक्त कर्मो का निरूपण किया है। अब इस दूसरे उद्देश में 'दुःख का वर्णन करेंगे' इसप्रकार ग्रन्थ की आदि में अभिधेय की गाथा से हम जानते हैं। 'दुःख क्या है?' दुःख यह कर्म का परिणाम है। सांसारिक सुख भी वस्तुतः दुःख ही है। अतएव दुःख शब्द से 'कर्म' का ग्रहणकर इस उद्देश मे किये हुए कर्मो का भुगतानसंबंधी वर्णन किया गया है।

इस उद्देश के प्रारंभ में जीव स्वयंकृत कर्म को भुगतता है। स्वयंकृत आयुष्य को भुगतता है? इन दो प्रश्नों का निराकरण करने के पश्चात नैरयिक, असुरकुमारादि, पृथ्वीकायिक, द्वीन्द्रियादि. मनुष्य, देव, लेश्यावान् जीव, लेश्या, संसार, संस्थानकाल, अंतक्रिया उपताप, असज्ञी आयुष्य, इतने विषयसंबंधी प्रश्नोत्तर हैं।

इसमें नैरयिकों का आहार-कर्म-वर्ण-लेश्या-वेदना-क्रिया उम्र संबंधी वर्णन है और लगभग ये-बातें-असुरकुमारादि के लिये भी है। उसमें जहाँ-जहाँ विशेषता है वे बतलाई जायगी।

इन सब प्रश्नोत्तरों में जो बातें खास ध्यान खींचनेवाली है वे यह है:—

नारकजीव दो प्रकार के बतलाये गये हैं–१ बड़े शरीरवाले, २ छोटे शरीरवाले। दूसरे प्रकार से दो भेद यह है–१ पूर्वोत्पन्नक (दूसरे नारक की अपेक्षा पहिले जन्मा हुआ) २ पश्चादुपपन्नक (पहिले जन्मे हुए नारकजीव की अपेक्षा पिछे से जन्मा हुआ) तीसरे प्रकार से दो भेद ये हैं–१ संज्ञीभूत, २ असंज्ञीभूत। चौथे प्रकार से नारकजीवों के तीन भेद हैं–१ सम्यग्दृष्टिनारक, २ मिथ्यादृष्टिनारक, ३ सम्यग मिथ्यादृष्टिनारक। जब पांचवे प्रकार से नारकजीव चार भेदवाले हैं।

१ समानवय तथा साथ में उत्पन्न हुए।

२ समान वय तथा आगे-पिछे जन्मे हुए

३ विषम आयु तथा साथ में जन्मे हुए।

४ विषम आयु और आगे-पिछे जन्मे हुए।

पृथक्-पृथक् दृष्टि से पड़े हुए इन भेदों के कारण नारक जीवों के आहार-कर्म-वर्ण-लेश्या-वेदना-क्रिया और वय आदि में भेदों की न्यूनाधिकता हो यह स्वाभाविक है।

पृथ्वीकायिक जीव मायी-मिथ्यादृष्टि बताये गये हैं उनकी माया अनंतानुबंधी कषायवाली होती है। अतएव मिथ्या दृष्टिवाले होते हैं। दो इन्द्रियवाले, पांच इन्द्रियवाले जीवों भी मान कायर मनुष्य कि भी–१ सम्यग्दृष्टि, २ मिथ्यादृष्टि और ३ मिश्रदृष्टि आदि से तीन भेद हैं। सम्यग्दृष्टि के तीन भेद हैं–१ संयत,

२ संयतासंयत, ३ असंयत। संयम (संयमी) के भी दो भेद है-
१ प्रमत्त संयम, २ अप्रमत्त संयम। ⁂ ८

⁂ ८ राजगृही नगरी में देवो के द्वारा स्थापित समवसरण में विराजमान भगवान महावीर स्वामी ने दूसरा उद्देशा इस प्रकार कहा है—जीवमात्र अपने ही किये हुए कर्मो को भुगतता है। इसमें इतना ज्यादा समझना है। कि 'सत्ता मे पडे हुए सब कर्मो का भुगतान नही होता है। परंतु स्थितिक्षय से जो उदय में आये हुए है उन्ही का भुगतान होता है। परंतु जो अनुदित-अनुदीर्ण है उनका वेदन नही होता है। आयुष्य कर्म भी उदित हो वही भुगता जायगा। परतु जिस आयुष्य कर्म का उदय अभी नही आया है। उसका वेदन नही होता है। कृष्ण महाराजा ने मिथ्यात्व के जोरपर प्रथम तीन नरक भूमिओ की आयु निकाचित और पिछली चार नरक भूमिओ का अनिकाचित आयु बाधा था। परतु वह कर्म उदय मे आने के पहिले ही सम्यक्त्व की शुभधाराएं जैसे-जैसे बढती गई वैसे-वैसे अनिकाचित आयुष्य कर्म को तोड देने में समर्थ बने और निकाचित कर्म का उदय आते ही तीसरी नरक भूमि मे उत्पन्न हुए। अत. कहा जाता है कि उदित कर्म का वेदन होता है।

नारक जीव जो बडे शरीरवाले है। उनका आहार ज्यादा होता है। व्यवहार मे भी प्राय स्थूल शरीरधारी इन्सान ज्यादा खाता है। श्वासोच्छ्वास भी ज्यादा लेता है।

जो पूर्वोत्पन्नक नारक है। उनके बहुत से कर्म निर्जरित हो जाने से अल्पकर्मवाले कहे जाते है और पिछे से उत्पन्न हुए नारक को अभी कर्मो का भुगतान ज्यादा होने से महाकर्मवाले कहलाते है।

इस प्रकार पूर्वोत्पन्नक नारक तद्भवीय कर्मो के भार से अतिशयमुक्त होने के कारण विशुद्धवर्णवाले, विशुद्धलेश्यावाले होने से उन जीवों का वर्ण, लेश्या तथा श्वासोच्छ्वास समान नही होते है।

संसार संस्थानकाल

अब सस्थानकाल सबधी वर्णन है। ससार मे कितनेही लोग ऐसा मानते है कि–अनादि ससार में जीवो की स्थिति एकही प्रकार की है परतु सत्यार्थ मे वैसी नही है। यहाँपर ससार से चारगति लेने की है। नरक तिर्यंच मनुष्य तथा देव। इन गति मे जो सस्थान-अवस्थान अर्थात् स्थिर रहने, रुप क्रिया तथा उसका समय, उसका नाम है सस्थानकाल। इसकाल मे शून्य-काल–अशून्यकाल तथा मिश्रकाल के तीन भेद है। इसमे नारक को तीनो प्रकारका काल है। तिर्यंचो को दो प्रकार का, क्योकि उसमें शून्यकाल नही है। तथा देवोको तीनो प्रकार का काल है।

इसीप्रकार अतक्रिया-उपपात तथा असयती आयुष्यसबधी प्रश्नोत्तरो के पश्चात यह उद्देशा समाप्त होता है।

॥ दुसरा उद्देशा समाप्त ॥

किया जाता है। अतएव वह कर्म है। इनके करने की क्रिया भिन्न भिन्न होती है। अतः विवरणकारने इसप्रकार के भेद बतलाये है।

१ अवयव से अवयव की क्रिया।

२ अवयव से पूरे की क्रिया।

३ पूरे से अवयव की क्रिया।

४ पूरे से पूरे की क्रिया। ❋ १

❋१ इन चारो भेदो में से प्रस्तुत विषय मे चतुर्थ भेद ही मान्य करना है। क्योंकि मोहनीय कर्म की उदयावस्था अथवा अज्ञानवश मोहनीय कर्म की उदीरणा करनेवाले जीवात्मा के सपूर्ण प्रदेश (आठ रुचक प्रदेश शिवाय) मोहनीय कर्म के नशे में पूर्ण रुप से बेभान होकर आठ कर्मो की अनत वर्गणाओं को उपार्जन करते है। साराश यह है कि आत्मा के सब प्रदेशो से आठो प्रकार के कर्म बाधे जाते है, आत्मा का अमुक प्रदेश अमुक कर्म को बाधता है। जब दूसरे अमुक प्रदेशो से दूसरे कर्म बधाते है। यह मानने की भूल कदापि नही करनी चाहिये, क्योंकि जैन शासन में अमुक प्रदेश अमुक कर्म के लिए नियत नही है। परन्तु सब कर्म सब प्रदेशो से ही बाधे जाते।

आत्मा के एक प्रदेशपर ज्ञानावरणीय कर्म भी होता है, दर्शनावरणीय भी होता है, तथा अन्तराय कर्म भी होता है। इसप्रकार सब प्रदेशो मे सब कर्म होते है। अतएव कहा जाता है कि, आत्मा के एक-एक प्रदेश पर अन-तानत कर्मो की वर्गणा सलग्न है। जिस कारण से अनतशक्ति का स्वामी यह आत्मा अपना मूल स्वरुप नही समझ सकता है। तथा अपनी सत्ता समझने में भी बेध्यान है। इसप्रकार का काक्षा मोहनीय कर्म का उदयकाल (वेदनकाल) होने से। जीवमात्र को जिनेश्वर भगवान के वचनो के प्रति देश से अथवा पूर्णरुप से शकाए होती है। दूसरे दर्शनो को ग्रहण करने की इच्छा होती है। धार्मिक अनुष्ठानो के फल में भी सदेह रहता है। यह जैन शासन

अस्तित्व–नास्तित्व

इसके बाद अस्तित्व-नास्तित्व संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। अस्तित्व अस्तित्व में परिणित होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणित होता है। यह प्रश्न है। भगवान 'हाँ' में उत्तर देते हैं। बाद में ऐसा किससे होता है? जीव की क्रिया से या स्वभाव से? भगवान दोनों से परिणित होने का बताते हैं।

इस प्रसंगपर 'अस्तित्व', 'नास्तित्व' ये क्या हैं? इसका संक्षेप में हम विचार कर लें।

पहले में या आया है कि, 'जो पदार्थ जिस रूप में होता है, वह पदार्थ उसी रूप में रहे, इसे अस्तित्व कहते हैं और अन्य स्वरूप होनेपर वह 'नास्तित्व' है। उदाहरणस्वरूप मनुष्य मनुष्य रूप में सर्वकाल में सत् है-विद्यमान है। अस्तित्व रूप में है। जब मनुष्य अश्वरूप में सर्वकाल में असत् है।

पुनश्च जो वस्तु असत् रूप में होती है। वह किसी काल में

[illegible]

[illegible]

किया जाता है। अतएव यह कर्म है। इनके करने की क्रिया भिन्न भिन्न होती है। अत: विवरणकारने इसप्रकार के भेद बतलाये है।

१ अवयव से अवयव की क्रिया।

२ अवयव से पूरे की क्रिया।

३ पूरे से अवयव की क्रिया।

४ पूरे से पूरे की क्रिया। ※ १

※१ इन चारो भेदो में से प्रस्तुत विषय मे चतुर्थ भेद ही मान्य करना है। क्योकि मोहनीय कर्म की उदयावस्था अथवा अज्ञानवश मोहनीय कर्म की उदीरणा करनेवाले जीवात्मा के सपूर्ण प्रदेश (आठ रुचक प्रदेश शिवाय) मोहनीय कर्म के नशे में पूर्ण रुप से वेभान होकर आठ कर्मों की अनत वर्गणाओ को उपार्जन करते है। साराश यह है कि आत्मा के सव प्रदेशो मे आठो प्रकार के कर्म वाधे जाते है, आत्मा का अमुक प्रदेश अमुक कर्म को वाधता है। जब दूसरे अमुक प्रदेशो से दूसरे कर्म वधाते है। यह मानने की भूल कदापि नही करनी चाहिये, क्योकि जैन शासन में अमुक प्रदेश अमुक कर्म के लिए नियत नही है। परन्तु सव कर्म सव प्रदेशो मे ही बाधे जाते।

आत्मा के एक प्रदेशपर ज्ञानावरणीय कर्म भी होता है, दर्शनावरणीय भी होता है, तथा अन्तराय कर्म भी होता है। इसप्रकार सव प्रदेशो मे सव कर्म होते है। अतएव कहा जाता है कि, आत्मा के एक-एक प्रदेश पर अन–तानत कर्मो की वर्गणा सलग्न है। जिस कारण से अनतशक्ति का स्वामी यह आत्मा अपना मूल स्वरुप नही समझ सकता है। तथा अपनी सत्ता समझने में भी वेध्यान है। इसप्रकार का काक्षा मोहनीय कर्म का उदयकाल (वेदनकाल) होने से। जीवमात्र को जिनेश्वर भगवान के वचनो के प्रति देश से अथवा पूर्णरुप से शकाए होती है। दूसरे दर्शनो को ग्रहण करने की इच्छा होती है। धार्मिक अनुष्ठानो के फलमे भी सदेह रहता है। यह जैन शासन

अस्तित्व—नास्तित्व

इसके बाद अस्तित्व-नास्तित्व संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। अस्तित्व अस्तित्व में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है। यह प्रश्न है। भगवान 'हाँ' में उत्तर देते हैं। बाद मे ऐसा किससे होता है? जीव की क्रिया से या स्वभाव से? भगवान दोनों से परिणत होने का बताते हैं।

इस प्रसंगपर 'अस्तित्व', 'नास्तित्व' ये क्या हैं? इसका संक्षेप में हम विचार कर लें।

पहले में यह आया है कि, 'जो पदार्थ जिस रूप में होता है, वह पदार्थ उसी रूप में रहे, इसे अस्तित्व कहते हैं और अन्य स्वरूप होनेपर वह 'नास्तित्व' है। उदाहरणस्वरूप मनुष्य मनुष्य रूप से सर्वकाल में सत् है-विद्यमान है। अस्तित्व रूप में है। जब मनुष्य अश्वरूप से सर्वकाल में असत् है।

पुनश्च जो वस्तु असत् रूप में होती है। वह किसी काल में

[illegible]

[illegible]

स्वरूप मे नहीं होती है। जैसे कि अरूपीपना। इसी प्रकार जो स्वरूप है वह अरूप रूप नहीं होती है। जैसे की आत्मा, यह आत्म [illegible] मे ही रहेगा, पर मे नहीं। ❋ १०

❋ १० इसका सारांश यह है कि अमुक अपेक्षा से द्रव्य मे अस्तित्व (विद्यमानता) और नास्तित्व (अविद्यमानता) के पर्यायों की विद्यमानता अनुभव सिद्ध है। अपना जो द्रव्यमात्र का स्वभाव ही होता है। जिसमें उन पदार्थों में अमुक पर्यायों का अस्तित्व और पर्यायो का नास्तित्व अपेक्षा से स्वत सिद्ध है। ज्ञाता खुद भी एक द्रव्य के अनन्त पर्यायो को एक समय मे जानने के लिए आग्रह नही करता है। अत किसी भी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान में अपेक्षादृष्टी-सापेक्षवाद ही सहायक बनता है।

घडा खरीदनेवाला आदमी दुकानदार के पास जाकर इसप्रकार कहता है " मुझे अहमदावाद की मिट्टी से मार्गशीर्ष माह में बनाया हुआ, लालरग का घडा खरीदना है। तब खरीददार के मस्तिष्क में असख्य गावों के काले, पीले तथा सफेद रग के पौष महिने से लेकर कार्तिक माह तक भिन्न-भिन्न द्रव्यो के बने हुए घडे होते हैं, फिर भी खरीददार ज्ञाता अन्य सब की जानकारी की इच्छा नही करता है और अपनी इच्छित वस्तु ही मागता है। तब हम यह मानते हैं कि एक घडे में द्रव्यसबधी वस्तुओ में से मिट्टी द्रव्य विद्यमान है। और सुवर्ण, चादी आदि द्रव्य की अविद्यमानता है। क्षेत्र से अहमदावादी घडा है। जब की पाटण खभात आदि क्षेत्रो की विद्यमानता नही है। काल से अगहन माह मे बना है, अन्य माह में नही बना है, और भाव से लाल रग का है क्योंकि दूसरे रगो का अभाव प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ (द्रव्य) मे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षासे अस्तित्व है। तथा परद्रव्यादि की अविद्यमानता है। यह भी वास्तव में सत्य है। साराश यह है कि एक ही द्रव्य में अमुक पर्यायो का अस्तित्व है। जबकि अमुक पर्यायो का नास्तित्व भी स्वत सिद्ध है।

कांक्षा मोहनीय के हेतु

इसके बाद के प्रश्नोत्तर में कांक्षा मोहनीय कर्म बांधने के हेतुओं का वर्णन है। इसका सार यह है कि कांक्षा, मोहनीय कर्म प्रमादरूप हेतु से और योगरूप निमित्त से बांधा जाता है। वह प्रमाद-मन-वचन-काया के व्यापार के योग से उत्पन्न होता है। यह योग वीर्य से उत्पन्न होता है और जीव में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम (पुरुषार्थ) की जरूरत है।

यहां विवरणकार ने प्रमाद और योग पर सुंदर विवेचन किया है।

कांक्षा मोहनीय कर्म बांधने का मुख्य कारण प्रमाद है। यह प्रमाद अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति और कषाय। वास्तविक रूप से प्रमाद के आठ प्रकार हैं—१ अज्ञान, २ संशय, ३ मिथ्याज्ञान, ४ राग, ५ द्वेष, ६ मतिभ्रंश, ७ धर्म में अनादर, ८ योग और

[illegible]

[illegible]

दुर्ध्यान। इसमे ऊपर के तीन का मिथ्यात्व, अविरती और कषाय का समावेश हो जाता है। इस प्रमाद का उत्पादक योग है। मन-वचन-काया का व्यापार है। इन तीन की क्रिया बिना मद्यादि प्रमाद की सभावना नहीं है। इस योग की उत्पत्ति वीर्य से बताई गई है। यह वीर्य क्या है? लेश्यावाले जीव का मन-वचन-काया रुप आत्मप्रदेश का परिस्पंद रुप जो व्यापार है, उसका नाम वीर्य है। इस वीर्य का उत्पादक शरीर है। क्योंकि शरीर बिना वीर्य नहीं हो सकता और शरीर का उत्पादक जीव है। जीव के साथ कर्म भी कारण जरुर होते है; परंतु इन कर्म का कारण भी जीव है। जीव ही मुख्य बताया गया है। ※ ११

※ ११ अर्थ और काम के उपार्जन से धर्म तथा मोक्षपुरुषार्थ की आराधना के लिए उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषार्थ की अत्यन्त और अनिवार्य आवश्यकता है। यह जैन शासन को मान्य है।

"भाग्य से ही सब मिलता है। तथा मोक्ष भी भाग्य बिना नही मिलता" जैन धर्म की यह मान्यता नही है।

व्यवहार मार्ग मे अर्थात् अर्थ तथा काम के उपार्जन में तथा भुगतने मे और उस भोग से मिले क्षणिक आनन्द मे भी केवल भाग्य के भरोसे कोई रहा नही, रहता नही और रहेगा भी नही। जीवमात्र दोनो वस्तुओ की प्राप्ति के लिए आलसी बनकर बैठा नही रहता है। बल्कि कुछ न कुछ प्रयत्न करने मे लगा हुआ दिखाई देता है। ससार का व्यवहार भाग्य के भरोसे, ईश्वर के विश्वास पर या मन्त्र-तन्त्र तथा ज्योतिष के आधार पर नही चलता है। आत्मा स्वय ही जब उन-उन वस्तुओ की प्राप्ति के लिए अनेक प्रयत्न (उत्थान) करती है। उनके लिए अमुक शारीरिकादि क्रियाएं भी करती है। थोडा शरीर का प्रयोग भी करती है तथा स्वय की स्फूर्तिरुप पराक्रम भी

का ग्राहकत्व है। कुछ मन के और दूसरे द्रव्यों को भी ग्रहण करता है और अवधिज्ञान में सब से पहला दर्शन होता है कोई ऐसा अवधिज्ञान नहीं है कि जो केवल मनोद्रव्यों को ही ग्रहण करता है।

दर्शन

'दर्शन' सबंधी विवेचन में 'दर्शन' के अलग-अलग अर्थ किये गये है।

'दर्शन' का एक अर्थ किया है 'सामान्य ज्ञान', इसके चक्षु-दर्शन और अचक्षुदर्शन इसप्रकार दो भेद बताये हैं। इसमें कारण रुप इन्द्रियों को प्राप्यकारि' और 'अप्राप्यकारि' रुप से वर्णन किया गया है।

'दर्शन' का दूसरा अर्थ 'सम्यक्त्व' भी है। इसके 'क्षायोप शमिक' और 'औपशमिक' दो भेद बताये गये हैं। उसके बाद उनपर शंका समाधान है।

चारित्र

इसप्रकार चारित्र के दो भेद हैं–'सामयिक' और 'छेदोपस्था-पनीय' और उनपर शंका समाधान है।

साधु ऋजु जड और वक्र जड होने से दो भेद बताये गये हैं।

यदि पहले एकही प्रकार का चारित्र बताने में आये तो ऐसा बनना सभव है कि किसी ने चारित्र लिया, उसमे तनिक

मात्र दोष लग गया। जरा भूल हो गई अर्थात् उसने ऐसा समझ-लिया कि मेरा चारित्र नष्ट हो गया ऐसा समझकर वह घबरा कर आकुल व्याकुल हो जाता है, किन्तु दूसरी बार चारित्र लेना हो तो वह घबराता नहीं है और अपनी थोड़ी-सी भूल से वह नहीं समझता है कि 'मैं चारित्र से भ्रष्ट हो गया।' इसीलिए पहले और अन्तिम तीर्थंकर के साधु अनुक्रम से ऋजु जड़ और वक्र जड़ होने से उनके लिए पहला सामायिक और बाद में व्रत का आरोप कहा है। क्योंकि जो सामायिक थोड़ा अशुद्ध हो जाय तो भी व्रत में बाधा नहीं आती है। मतलब यह है कि इस संबंध में भूल रह जाय तो भी व्रत तो रहते ही हैं।

समाचारी

इसीप्रकार भिन्न-भिन्न समाचारियों-पद्धतियों को स्वीकार [illegible] जाते हैं। इनके लिए भी इसी प्रकरण में विवरण-कार ने खुलासा किया है कि चाहे समाचारी भिन्न हो पर विरुद्ध नहीं जाती है। क्योंकि उसका आचरण करनेवाला उसका प्रयोजक 'गीतार्थ' और 'अशठ' होता है। अर्थात् ऐसी समाचारी कि जिसके प्रयोजक गीतार्थ हों, अशठ हों और जो समाचारी असावद्य निरवद्य हो, और जिसका किसी ने निषेध न किया हो और जो बहुमत हो ऐसी समाचारी पद्धति बाधक नहीं होती है।

किन्तु साधन है, और साधन के लिए विरोध करना यह तो अज्ञानता की कहानी है। ※ १२

※ १२ इस प्रश्नोत्तर में निर्ग्रन्थ शब्द के साथ श्रमण होने के कारण श्रमण का अर्थ जैन साधु ही समझना है।

त्याग और वैराग्य में शिथिल साधु गुरुकुल-वास और स्वाध्याय वन में जो बेदरकार रहेंगे तो शंकाएं उत्पन्न होंगी और बढ़ेंगी और बढ़ती हुई शंकाएं साधक को फिर से मिथ्यात्व मोहनीय के प्रति आकर्षित कर लेगी।

॥ उद्देशा तृतीय समाप्त ॥

कर्म प्रकृति

इस उद्देशक में मुख्य विषय कर्म प्रकृति संबंधी है। अर्थात् कर्म प्रकृति कितनी? मोहनीय कर्म जब उदय में आया हुआ हो तब जीव परलोक गमन करता है या नहीं? अगर करता है तो किस से? इसी प्रकार पुद्गलों की भूत-वर्तमान और भविष्य काल की [illegible] संबंधी वैसे ही छद्मस्थ मनुष्य सिद्ध बुद्ध होता है या नहीं? इसके संबंध में वर्णन है। इसका सार यह है —

कर्म प्रकृति आठ हैं। उनका वर्णन प्रज्ञापना सूत्र में है। *

---

* कर्म कितने प्रकार के हैं? उनका बंध कैसे होता है? किन कारणों से कर्म बांधा जाता है? उनकी कितनी प्रकृतियां [illegible] हैं? इत्यादि प्रश्न हैं। उत्तर में भगवान ने फरमाया है कि [illegible] और [illegible] आत्माओं के [illegible] कर्म [illegible] प्रकार के होते हैं। [illegible] हैं—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—[illegible]

[illegible] भी अनन्त [illegible] में परिपूर्ण [illegible] है। कितने ही जीव अल्प ज्ञानवाले, कितनेही [illegible]ज्ञानवाले, कितनेही मिथ्याज्ञानवाले, बुद्धिभ्रमवाले, [illegible] और कितने यथार्थज्ञानवाले होते है। जिनका हम सब प्रत्यक्ष में अनुभव कर रहे है।

आकाश मे रहे हुए कम-ज्यादा बादलो के कारण सूर्य का प्रकाश जैसे मन्द-मन्दतर और मन्दतम बनता रहता है। वैसे आत्मा के सहज सिद्ध ज्ञान गुण को आच्छादित करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म है। आँख पर पट्टी बांधने मे मनुष्य जैसे किसी को देख नही सकता है। वैसे इस कर्म के कारण ही आत्मा को विशेष ज्ञान होने में अवरोध उपस्थित होता है।

(२) दर्शनावरणीय कर्म—जिससे आत्मा को सामान्यज्ञान होता है। जैसे की—यह घडा है, यह मनुष्य है, यह पशु है, ये सब जीव है। इसीप्रकार नाम, जाती, गुण इत्यादि से रहित सामान्यज्ञान को जैन शासन में 'दर्शन' कहते है। इस दर्शन को आवरण करनेवाला-रोकनेवाला कर्म दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है।

(३) वेदनीय कर्म—सुख-दुख सयोग और वियोग आदि द्वन्द्वो के कारण मानसिक परिणामो मे साता (सुख) असाता (दुख-पीडा) का अनुभव करते है। वह वेदनीय कर्म है। यद्यपि उदय में आते हुए सब कर्मो का वेदन (भुगतना) तो होता ही है। तथापि कीचड मे जैसे मेढक, मच्छर, मक्खी और सुगधीकमल भी पैदा होते है। फिर भी "पकेजायते इति पकज" इस उक्ति के अनुसार पकज शब्द से कमल का ही ग्रहण किया जाता है। उसी प्रकार यहांपर वेदनीय शब्द रूढ अर्थ मे होने से सुख-दुख भुगता जाता है। वह वेदनीय शब्द का अर्थ यहाँ इष्ट है।

(४) मोहनीय कर्म--जिसकारण से सत्-असत्, सत्य असत्य तथा विवेक मे यह आत्मा बेभान हो जाती है। अर्थात किसी भी मानसिक

इसप्रकार आठ कर्मों से [illegible] स्वभाव से आत्मा अनंत शक्तियों का स्वामी यह जीवात्मा [illegible] की अनंत [illegible] का प्रादुर्भाव नहीं कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का क्रमवार अनुक्रम किन कारणों से रखा है ?

उत्तर में इस प्रकार जानकारी दी जाती है कि—'गुण और गुणी कथंचित् भिन्न होते हैं। इस न्याय से गुणी आत्मा का ज्ञान-दर्शन गुण होने से आत्मा और ज्ञान अपेक्षा से भिन्न है।

"यत्र यत्र ज्ञान (चैतन्य) तत्र तत्र जीव । यत्र चैतन्य नास्ति स जीवो न भवति परन्तु अजीवोऽस्ति यथा घट पटादि पौद्गलिक पदार्था ।"

इस कथन के अनुसार जीव जब चेतना लक्षण से लक्षित होता है तब जीव को ज्ञान-दर्शन का अभाव होता है, इसप्रकार कैसे मान लिया जाय ?

अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए जीवात्मा को जो उच्च खानदान, आर्यजाति, आर्यसंस्कृति, पचेन्द्रियपटुता और धार्मिक संस्कार वगैरह लब्धियाँ प्राप्त हुई है। उनका श्रेय सम्यग्ज्ञान को है।

इन दोनो में भी ज्ञान प्रधान है। जिनके प्रभाव से सपूर्ण शास्त्रो के विषय की विचार परपरा की प्रवृत्ति सुलभ बनती है।

सपूर्ण कर्मो से मुक्त हुए केवली भगवान को भी सर्वप्रथम ज्ञानोपयोग ही होता है और दूसरे क्षण दर्शनोपयोग होता है। अत जिन कर्मों के कारण से यह ज्ञानशक्ति आवृत्त होती है, उस ज्ञानावरणीय कर्म को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। ज्ञानोपयोग से च्युत हुआ जीव दर्शनोपयोग में स्थिर होता है। जिससे यह शक्ति आच्छादित होती है वह दर्शनावरणीय कर्म दूसरे नबर मे स्थान प्राप्त कर सकता है। इन दोनो कर्म का उदयकाल जब चालू होता है तब तारतम्य भाव से जीवात्मा को सुख दुःख रूप वेदना का अनुभव

होने से द्वेष के आकार को धारण कर लेगा। क्योंकि यह अभियोग-स्वरूप परोपघात होती है। इन कारणों से (पहलुओं से) उक्त तीन कषाय राग और द्वेष रूप बन सकता है।

जब पूर्वोक्त बात को शब्दनय इसप्रकार कहता है। क्रोध और लोभ का सामावेश मान और माया मे ही हो जाता है। तो इसप्रकार मान और माया कषाय मे दूसरो की हानी करनेवाला आत्मा का जो अध्यवसाय होता है, वह अप्रोत्यात्मक होने से क्रोध है और स्वगुणो का उत्कर्ष रूप परद्रव्य की मूर्च्छा आत्मा को प्रिय होने से लोभ है। लोक प्रसिद्ध लोभ भी दूसरों का उपघात करनेवाला होता है, तब, और मूर्च्छात्मक रूप में होता है तब इस में परोपघात लोभ क्रोध कहलाता है और क्रोध द्वेष ही है। जब मुर्च्छा रूप लोभ का समावेश राग मे होगा। इसप्रकार राग और द्वेष सहित ज्ञानावरणीयादि कर्म सतत बधते है।

यद्यपि राग-द्वेष कर्मो का बधन नही करते है। परतु राग द्वेष के कारण आत्मा जब अपना स्वरूप भूल जाती है तब आत्मा स्वय ही कर्मो का कर्ता बन जाती है।

जीवात्मा के प्रति–प्रदेश में चारो घाती कर्मो की जो रज चिपकी (सलग्न) हुई है। क्षीण घाती केवली को छोडकर सब जीवो को वे कर्म भुगतने ही पडते है। जब आयुष्य कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म, और वेदनीय कर्म ये चारो अघाति कर्म ससार के चरम समय तक केवली भगवत को भी भुगतने पडते है।

राग, द्वेष, वश जीवात्मा द्वारा बाधे हुए अर्थात् कर्मरूप से परिणत हुए आत्मा के प्रदेशो के साथ एकाकार बने हुए, उत्तरोत्तर अधिक गाढतर एकाकार हुए, अबाधकाल को छोडकर उत्तर समय में वेदन योग्य के निषिक्त हुए। अग्रे–अग्रे प्रदेश हानि और रसवृद्धि द्वारा स्थापित हुए, समान जातीय प्रकृतियो में सक्रमण हुए, कुछ विपाक अवस्था को प्राप्त हुए, विशेष विपाक

जब मोहनीय कर्म उदय में आया हुआ हो, तब जीव को वीर्यता से उपस्थान करना चाहिये। उपस्थान अर्थात् परलोक के प्रति गमन। यहाँ वीर्यता के ३ भेद बताये जाते है—बालवीर्यता, पंडितवीर्यता और बाल पंडित वीर्यता। ऐसा समझना चाहिए कि इन तीन मे से बालवीर्यता से उपस्थान होता है। इसीप्रकार अप-क्रमण सबधी विचार है। अपक्रमण उसे कहते हैं कि, उत्तमगुण स्थानक से हीनतर गुण स्थानक मे जाना। मोहनीय कर्म जब उदय में आया हुआ होवे तब जीव अपक्रमण भी करता है। और वह बालवीर्यता से और कदाचित् बालपंडित वीर्यता से भी होता है। पंडितवीर्यता से नही होता है। बल्कि इस प्रकरण मे इसपर भी विवेचन किया गया है कि, किये गये पापकर्म को भोगे (वेदा)

इस प्रकार सामान्य और विशेष अध्यवसायो मे बधे हुए कर्मों के विपाक (फल) की प्राप्ति के समय उदय मे आये हुए, दूसरो द्वारा उदय मे लाये हुए और स्व पर निमित्त को लेकर उदय मे आते है।

कितने कर्म अमुक गति का आश्रय लेकर विशेष प्रकार से उदय मे आते है। जैसे कि नरक गति के आश्रय से असात वेदणीय कर्म उदय मे आते है। क्योकि उन जीवो का असातकर्म (असातावेदनीय) जितना तीव्र होता है उतना तिर्यंचो का नही होता है। उत्कृष्ट स्थिति से बध हुए कर्मों मे रस भी तीव्र होता है। जैसे अमुक भव के आश्रय से मिथ्यात्व की तीव्रता होती है।

मनुष्य और तिर्यंच अवतार मे निद्रा नाम का दर्शनावरणीय कर्म विशेषप्रकार से उदय मे आता है। यद्यपि देव और नारको को भी दर्शनावरणीय कर्म सत्ता मे तो होता ही है। किन्तु सुख मे मस्त हुए देवो

बिना अनुभव किये नारक तिर्यंच मनुष्य और देव के जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। यहां कर्म के दो भेद बताये गये हैं-प्रदेशकर्म तथा अनुभाग कर्म, इनमें प्रदेश कर्म अवश्य भोगना पड़ता है और अनुभाग कर्म में कितना भोगा जाता है और कितना नहीं भोगा जाता है।

ऊपर बालवीर्यतादि के जो भेद बताये गये हैं। उनमें विवरणकर्ता ने वीर्य का अर्थ प्राणी किया है। अर्थात् प्राणीत्व का या मनुष्य वीर्यता। अब 'बाल' का अर्थ यह किया जाता है कि- 'बाल' उस जीव को कहते हैं, जिस जीव को सम्यक् धर्म का बोध नहीं होता है और सद्बोध कारक विरति नहीं होती है। वह जीव बाल कहलाता है। 'बाल' अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव। जिस जीव

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

ने सर्व पापों का त्याग कर दिया है। अर्थात् सर्व विरति होने से वह पंडित कहलाता है। इसीप्रकार अमुक अंश तक विरती होने से पंडित और अमुक अंश तक विरती न होने से बाल, इसलिए वह बाल पंडित अर्थात देश विरतिवाला कहलाता है।

अब ऊपर जो प्रदेशकर्म और अनुभाग कर्म बताये गये हैं, उनका अर्थ यह है :-

प्रदेश और अनुभाग का अर्थ

प्रदेश अर्थात् कर्मों के आठ वर्गणात्मक पुद्गल जो आत्मा

भगवानने फरमाया है कि-ज्ञानावरणीय कर्म का रसोदय दस प्रकार से होता है। अर्थात् इस कर्म का उदयकाल जब शुरू होता है तब दस प्रकार के फल भोगने पडते हैं। वे निम्नानुसार है -

१ श्रोत्रावरण श्रोत्रेन्द्रिय — ज्ञानावरणीय
२ चक्षुरावरण चक्षुरिन्द्रिय — ज्ञानावरणीय
३ घ्राणावरण घ्राणेन्द्रिय — ज्ञानावरणीय
४ रसनावरण रसनेन्द्रिय — ज्ञानावरणीय
५ स्पर्शावरण स्पर्शेन्द्रिय — ज्ञानावरणीय

यहाँ श्रोत्रावरण, चक्षुरावरण, घ्राणावरण, रसनावरण और स्पर्शावरण ये पाच द्रव्येन्द्रिय जानना और शेष को श्रोत्रेन्द्रिय ज्ञानावरणीय, चक्षुरिन्द्रिय ज्ञानावरणीय, घ्राणेन्द्रिय ज्ञानावरणीय, रसनेन्द्रिय ज्ञानावरणीय और स्पर्शेन्द्रिय ज्ञानावरणीय इन पाचो को भावेन्द्रिय जानना।

इसका कारण यह है कि, एकेन्द्रिय जीवो को जीभ, नाक, चक्षु और

के असंख्यात प्रदेशों में ओतप्रोत हुए हैं। यह प्रदेशकर्म कहलाता है और उन्हीं कर्म प्रदेशों का उदयकाल या उदीर्णाकाल इत्यादि अनुभव किया जाता है। उसको अनुभाग कर्म कहते हैं। इन दोनों में प्रदेश कर्मों का भोग निश्चित है। ऐसा कहा गया है कि इन कर्मों का प्रदेशात्मक भाग नहीं भोगा जाता है। तथापि कर्म प्रदेशों

कान के भागों इन्द्रिय नहीं होने से श्रोत्रेन्द्रिय कर्मों का आवरण कर्म उदय में है। जैसे बधिर और उपयोग रूप भावेन्द्रियों का भी आवरण प्राप्त करते होता है। यद्यपि बकुल आदि वृक्षों में भावेन्द्रियों का अनुभव अस्पष्ट रूप से दिखाई देता है। फिर भी द्रव्येन्द्रिय का अभाव होने से वे [illegible] पंचेन्द्रिय की गणना में नहीं आते हैं। इसप्रकार दो इन्द्रिय जीवों के घ्राण, चक्षु और कान का अभाव होने से तद्विषयक ज्ञान का भी आवरण स्पष्ट है।

और तीन इन्द्रिय जीवों के चक्षु और कान तथा चतुरिन्द्रिय जीवों के कान का अभाव होने से तद्विषयक ज्ञान का भी आवरण है।

इन्द्रियों की प्राप्ति होने पर भी [illegible] इस प्रकार का [illegible] संयोग से इन्द्रियावरणीय कर्म का [illegible] हो जाता है। जैसे [illegible] आदि [illegible] उदय में आ जाता है। इसीप्रकार सभी इन्द्रियों के विषय में जान लेना चाहिए।

[illegible]

[illegible]

का नाश तो नियत से होता ही है। अनुभाग कर्म भोगा भी जाता है और नहीं भी भोगा जाता है।

आगे के पुद्गल के संबंध में कहे, गौतम! पुद्गल भूतकाल में थे। वर्तमानकाल में है और भविष्यकाल में जरूर रहेंगे। यहाँ पुद्गल का अर्थ परमाणु किया गया है। ※ १८

※ १८ भगवान ने फरमाया है कि—हे गौतम! पुद्गल परमाणु तीनों काल में शाश्वत है, क्योंकि जो 'सत्' होता है, वह क्षेत्र और काल को लेकर तिरोभाव रूप में अर्थात् रूपान्तर अवस्था को प्राप्त कर सकता है परन्तु सर्वथा नाश अवस्था को प्राप्त नहीं करता है।

प्रलयकाल मे जो संसार को सर्वथा नाश मानते है, उनको हित-शिक्षा देते हुए देवाधिदेव भगवान ने कहा कि—परमाणु भूतकाल मे थे, वर्तमानकाल मे है और भविष्यकाल मे रहेंगे। केवल सामग्रीवश उनका रूपान्तर होता रहता है। जैसे मिट्टी के पिंड से कुंभार द्वारा विशेष प्रयत्न करने से घटा बनता है और वापस टूटने पर टुकड़ो के रूपमे हो जाता है। समय बीतने पर मिट्टी के द्रव्य मे परिणत हो जाता है। क्योंकि मिट्टी द्रव्य 'सत्' है। (चाहे जैसे) घोर प्रलय काल मे भी रूपातर होता हुआ वह 'सत्' सर्वथा नाश नही पाता है।

प्रज्वलित दीपक पदार्थ के सहवास से तामस पुद्गल (अंधकार के पुद्गल) भी प्रकाशित होकर सब को प्रकाश देते है, और बाद मे प्रकाशित हुए पुद्गल अमुक प्रयत्न से दीपक के बुझनेपर अंधकार रूप मे परिणत हो जाते है। जो तामस पुद्गल है, वे तेजस्वी बन जाते है, और जो अभी तेजस्वी दिखलाई देते है, वे तामस रूप मे भी परिणत हो जाते है।

जब एक ही जातिके परमाणुओ का रूपान्तर होता है। तब हम को

'अवधिज्ञान' रहित जीव समझता है। 'यह नहीं समझना चाहिए कि' जो केवल ज्ञानरहित है, वह अज्ञानी है। यह अवधि ज्ञान देवों और नैरयिकों को जन्म से ही होता है और मनुष्य तथा तिर्यंचों के प्रतिबंधक कर्म नाश होने पर तथा तप से उत्पन्न होता है। इस अवधि ज्ञान के छः भेद बताये गये हैं—

अनानुगमिक, आनुगमिक, हीयमानक, वर्धमानक, अनवस्थित और अवस्थित। ※ १५

※ १५ इसका सार इतना ही है कि—समता, संवर, सदाचार और अष्ट प्रवचन माता की आचरणा केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए कारणभूत बन सकती है। किन्तु मोक्षगति नहीं दे सकती है। क्योंकि अनंत संसाररूपी कारावास में केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद ही मोक्ष प्राप्त करने के लिए जीव भाग्यशाली बनेगा और उसके लिए चरमावर्त की अन्तिम भूमिका में जीवात्मा को प्रवेश करने की आवश्यकता है। महावीर स्वामी भगवान ने भी तपश्चर्या, साधना और ध्यानरूपी अग्नि में कर्मों को भस्मीभूत करके केवल ज्ञान प्राप्त किया और तत्पश्चात् उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।

॥ चतुर्थ उद्देशा समाप्त ॥

प्रभा में ९९९९५ हजार और तमस्तम: प्रभा में ५, इसी प्रकार असुरकुमारों का आवास –

असुरकुमारों का ६४ लाख, नागकुमारों का ८४ लाख, सुवर्णकुमारों का ७२ लाख, वायुकुमारों का ९६ लाख और द्वीप कुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, विद्युतकुमार, स्तनितकुमार और अग्निकुमार ये छः युगलक के ७६ लाख आवास हैं।

पृथ्वीकायिकादि के आवास

पृथ्वीकायिकों के असंख्येय लाख आवास कहे हैं और इसी प्रकार ज्योतिषिकों के भी असंख्येय लाख विमानावास हैं।

सौधर्मादि कल्पों में अनुक्रम से ३२ लाख, २८ लाख, १२ लाख, ८ लाख, ४ लाख, ५० हजार, ४० हजार, विमानावास हैं। सहस्रार देवलोक मे ६ हजार आनत-प्राणत में ४ सौ, आरण-अच्युक मे ३ सौ, १११ विमानावास अधरतन मे, १०७ बिचले मे (मध्यमे) और १० अपर में हैं। अनुत्तर विमान पांच ही हैं।

दशस्थान

पृथ्वी वगैरह जीवावास मे दस प्रकार के स्थान कहने में आये हैं। स्थिति, अवगाहना, शरीन, सहनन, संस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग और उपयोग।

उपरोक्त स्थिति आदि के १० प्रकार के स्थान पृथ्वी आदि

आवास में कितने हैं। यह बताया गया है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं :-

एक-एक निरयावास में रहनेवाले नैरयिकों की उम्र कम से कम दस हजार वर्ष की है।

इन निरयावास में रहनेवाले नैरयिक क्रोधोपयुक्त, मानोयुक्त, मायोपयुक्त: और लोभोपयुक्त हैं क्या ?

इसके उत्तर में बहुत विस्तार से भेद बताये गये हैं. उस को देख लेना चाहिये।

इसके बाद अवगाहना स्थान बताये गये हैं। अर्थात् इन नैरयिकों की अवगाहना स्थान असंख्येय हैं। जितनी अवगाहना उनकी कम से कम अंगुल के असंख्येय भाग। एक प्रदेशाधिक, दो प्रदेशाधिक इसप्रकार असंख्येय प्रदेशाधिक समझना चाहिये।

नैरयिकों के तीन शरीर बताये गये हैं—वैक्रिय, तैजस, और कार्मण।

नैरयिकों के संहनन नहीं होते हैं। उनके शरीर में हड्डियां, नसें और स्नायु नहीं होते हैं और शरीर-संघातरूप से जो पुद्गल परिणत होते हैं वे अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ और अमनोज्ञ होते हैं।

नैरयिकों के शरीर के संस्थान के संबंध में कहा जाता है कि नैरयिकों के शरीर दो प्रकार के हैं—भवधारणीय और उत्तर वैक्रिय

भवधारणीय अर्थात जीवन पर्यन्त रहनेवाला शरीर। भवधारणीय शरीर और उत्तर वैक्रिय शरीर दोनों हुंडक संस्थानवाले ही हैं। ※ १६

लेश्यादि

रत्नप्रभादि सात पृथ्वियों में छः लेश्याओं में से कौन कौनसी लेश्याएं हैं? इसके उत्तर में कहा है कि पहली और दूसरी में कापोत लेश्या, तीसरी में कापोत और नील लेश्या। चौथी में नील लेश्या, पांचवी में नील और कृष्ण लेश्या, छठी में कृष्ण लेश्या और सातवी में परम कृष्ण लेश्या है।

इन रत्नप्रभादि पृथ्वियों में रहनेवाले नैरयिक सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि, इसतरह से इनके तीन प्रकार

※ १६ नरकभूमियां उत्तरोत्तर एक दूसरे से निम्नस्तर की हैं, इस प्रकार सख्या मे कुल सात ही हैं। जिस स्थलपर हम बैठे हैं यहां से एक लाख अस्सी हजार योजन मोटाईवाली (जाडाईवाली) पहली नरकभूमि है। नीचे की तथा ऊपर की ओर एक एक हजार योजन छोडकर बाकी के १७८००० योजनावाली नरकभूमि मे एक महल के माले के समान कुल १३ प्रस्तर माला है और उनमे ३० लाख नरकावास है। अर्थात् पहली नरकभूमि मे उत्पन्न होने वाले नारकी जीवो के प्राय करके ३० लाख स्थान (आवास) है। इन सात भूमिओ मे प्राय करके ८४ लाख आवास हैं।

जघन्य से पूर्व नारकजीवो की जो दस हजार वर्ष की आयुष्य मर्यादा है, वे १३ प्रस्तर मे से पहले प्रस्तर को लक्ष्य मे रखकर है। उनकी उम्र कम से कम १० हजार वर्ष की होती है। उनमे से किसी की उम्र १० हजार वर्ष से अधिक एक–दो–तीन उत्तरोत्तर असख्य समय तक वृद्धि रूप मे

हैं। तथा ये जीव ज्ञानी और अज्ञानी दो प्रकार के हैं। जो ज्ञानी होते हैं उनको तीन ज्ञान नियमपूर्वक होते हैं। और जो अज्ञानी होते हैं उनको तीन अज्ञान भजनापूर्वक होते हैं। नैरयिक जीव मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी, इसतरह तीन प्रकार के हैं। तथा ये जीव साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त भी हैं।

असुरकुमारादि के संहनन, संस्थान और लेश्या नारकों से भिन्न होती हैं। उनके शरीर संहनन बिना के होते हैं। परंतु उनके शरीर संघात रूप से ये जो पुद्गल परिणत होते हैं, जो इष्ट और सुंदर होते हैं।

उनका जो भवधारणीय स्थायी शरीर है वे समचतुरस्र संस्थान रूप स्थित हैं, और जो शरीर उत्तरवैक्रिय रूप है। वे किसी एक संस्थान रूप से बंधे हुए होते हैं। उनकी लेश्याएं चार होती हैं— कृष्ण, नील, कापोत और तेज लेश्या।

[illegible]

[illegible]

पृथ्वीकायिकों के तीन शरीर बताये गये हैं—औदारिक, तैजस और कार्मण।

पृथ्वीकायिकों के शरीर संस्थान रूप में सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार के पुद्गल परिणत होते हैं। तथा वे हुंड संस्थानवाले हैं, [illegible] हैं। उनको लेश्याएं भी चार हैं। वे निश्चय में मिथ्यादृष्टि हैं। वे ज्ञानी नहीं हैं। किन्तु अज्ञानी हैं। दो अज्ञान ही होते हैं। वे केवल काययोगी हैं। इसीप्रकार अप्कायिक जीवों के संबंध में भी जान लेना चाहिए।

वायुकायिक के चार शरीर बताये गये हैं—औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

वनस्पतिकायिकों को पृथ्वी कायिकों के समान जान लेना चाहिए। विकलेन्द्रिय दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौरिन्द्रिय (चतुरिन्द्रिय) की स्थिति पृथ्वीकायिकों के समान जाननी चाहिए। विशेष यह है कि उनमे तेजोलेश्या नहीं होती है। वे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिवाले होते हैं। वे ज्ञानी और अज्ञानी भी हैं।

जो ज्ञानी हैं, उनको दो ज्ञान होते हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। जो अज्ञानी हैं उनको दो आज्ञान हैं—मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान। वे वचनयोगी और कामयोगी होते हैं परन्तु मनोयोगी नहीं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की स्थिति नारकसूत्रों (जीवो) के सदृश जानन चाहिए। विशेषता यह है कि इनके चार शरीर होते हैं—

कारण यह है कि दोनों शाश्वत भाव हैं, अनादि हैं । अर्थात् अमुक पहले और अमुक पीछे इसप्रकार कहना असंभव है । जिस प्रकार मुर्गी और अंडा इसमें पहले कौन और बाद में कौन ? मुर्गी के बिना अंडा नहीं और अंडे के बिना मुर्गी नहीं । इसी प्रकार सब जानना चाहिये ।

तथा अवकाशान्तर, वात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर, क्षेत्र, नैरयिकादिजीव, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या दृष्टि, ज्ञान, दर्शन, संज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्यप्रदेश, पर्यायें, काल इत्यादि के लिए पहले और बाद (पीछे) का प्रश्न स्पष्ट हो जाता है । अर्थात् जो वस्तुएँ अनादि हैं । इसके लिए पहले और पीछे का क्रम कहा नहीं जा सकता है । ※ १९

※ १९ भगवान महावीर स्वामी का 'रोह' नाम का अणगार अन्तेवासी था । वह परोपकारशील, भाव मार्दव का स्वामी, विनयवान, (विशेषेण नयति दूरी करोती रागादि शत्रून् सो विनय) कषायो से मुक्त तथा शुद्धोपयोग से कषायो को कमजोर बनानेवाला, गुरुकुलवासी और आठ प्रकार के मद से रहित ऐसा 'रोह' नाम का अणगार एक समय मे भगवान महावीर के चरणो मे समुपस्थित हुआ, और अपने मन मे रही हुई शकाओ का समाधान किया । ये सभी बातें इन प्रश्नोत्तर मे अत्यन्त स्पष्ट है ।

जिस समय भगवन महावीर स्वामी विचरते थे । तब जो दूसरे अेकान्त वादि दार्शनिक थे । उनके मत मतान्तरो के कारण 'रोह' नाम के अणगार के मन मे निम्नानुसार शकाये थी ।

(१) प्रत्यक्ष दिखलाई देता हुआ और तीन काल मे अनुभव कराता हुआ यह लोक (ससार) क्षणस्थायी किस रीतिसे बन सकता है ?

(२) "ज्ञानादन्योऽर्थः पर.–ज्ञान से भिन्न पदार्थ भी जिसको

लोकस्थिति

रोह अणगार द्वारा इन प्रश्नोत्तर के बाद गौतमस्वामी के प्रश्न लोकस्थिति के संबंध में पुनः शुरू होते हैं।

गौतमस्वामी भगवान से पूछते हैं कि, लोकस्थिति कितने प्रकार की है ? इसके उत्तर में भगवान आठ प्रकार की बताते हुए कहते हैं। वह निम्नानुसार है–

वाण व्यंतरादि संबंधी

भवनवासी और व्यंतरदेवों में समानता है। किन्तु ज्योतिष्कादि का वैसा नहीं है। ज्योतिष्कादि के १० भेद हैं।

ज्योतिष्कों को एक ही तेजो लेश्या होती है। उनको तीन ज्ञान और तीन अज्ञान होते हैं।

वैमानिकों को तेजोलेश्यादि तीन लेश्याएं होती हैं। और तीन ज्ञान और तीन अज्ञान होते हैं।

बीमार (रोगी) बनता है। कर्मों को बांधना भी जानता है और उन के मूल को जलाकर भस्म करना भी जानता है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिए यह औदारिक शरीर ही हमारे लिए उपयोगी है। वैक्रिय शरीर में हड्डियां तथा मांस नही होते है। वह पुण्यकर्मी देवतावों को पुण्यकर्म भोगने के लिए और पापकर्मी नारकों को पाप भोगने के लिए होता है। वैक्रिय शरीरधारी देवताओं के पास अनेक महान शक्तियां होती हैं, किन्तु सिर्फ मोक्ष प्राप्त कराने मे समर्थ नही होती है।

आहारक शरीर औदारिक और वैक्रिय की अपेक्षा सूक्ष्म होता है, वह अप्रमत्त ऐसे उपयोगवंत संयमधारी चतुर्दश पूर्वधारी को ही होता है। संशय के निवारण के लिए वे इस शरीर को धारण करते है।

संघयण अर्थात् हड्डियों की रचना और संस्थान अर्थात् शरीर का आकार केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए वज्रऋषभनाराच संघयण की आवश्यकता होती है।

॥ पंचम उद्देशा समाप्त ॥

※ ※ ※

शतक पहिला उद्देशक-६

सूर्य का दिखना

इस उद्देशक में सूर्य का दिखलाई देना, सूर्य के प्रकाश क्षेत्र की और अस्त होने की लम्बाई, लोकान्त-अलोकान्त की स्पर्शना जीवों द्वारा की जाती हुई क्रियाओं का विचार लोक और अलोकादि में पहला कौन, बाद में कौन ? लोक स्थिति के प्रकार और सूक्ष्म अप्काय का विचार आता है।

इस प्रकारके भिन्न-भिन्न विषय संबंधी प्रश्न हैं। इनमें कितनी ही बातें बल्कि पूरे प्रकरण की विगत वैज्ञानिक है।

सारांश यह है कि-

जितनी दूर से उदय होता हुआ सूर्य दिखलाई देता है उतनी दूर से सूर्य अस्त होता हुआ भी दिखलाई देता है। कहा गया है कि-सूर्य सबसे अंदरके मंडल से ४७२६३ से कुछ अधिक योजन जितनी दूर से उदयावस्था में दिखाई देता है, उतनी ही दूर से अस्त होते समय भी दिखलाई देता है। इसी प्रकार उदय होता हुआ सूर्य जितने क्षेत्र में प्रकाश देता है, गर्मी पहुँचाता है। उतने ही क्षेत्र में अस्त होता हुआ सूर्य भी प्रकाश देता है। ऐसा कहा गया है कि सूर्य की गर्मी से स्पर्शित छ दिशाएं हैं।

संसार में लोक और अलोक, इसप्रकार दो पदार्थ माने गये

वायु आकाश के आश्रित है।
उदधि (समुद्र) वायु के आश्रित है।
पृथ्वी उदधि के आश्रित है।
जीव (त्रस-स्थावर) पृथ्वी के आश्रित हैं।
अजीव (जड पदार्थ) जीव के आश्रित हैं।

अजीवों द्वारा जीव संग्रहीत हैं और जीवों द्वारा कर्म संग्रहीत है।

यहाँ इस के संबंध में एक उदाहरण दिया जाता है कि चमडे की मशक पवन द्वारा फुलाई जाती है। बाद में उस मशक का मुख बांधकर बीच मे डोरी बांधी जाय और उपर के भाग से हवा नीकालकर पानी भरा जाय, फिर बीचली डोरी खोलने पर भी पानी हवा के उपर स्थिर रहेगा। इसीप्रकार ऊपर लिखे अनुसार एक दुसरे से परस्पर संबंध जुडा हुआ है। ☼ २०

☼ २० लोक स्थिति (संसार मर्यादा) आठ प्रकार की बताई गई है। ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी को छोडकर बाकी की सात पृथ्वीयां, जीव, पुद्‌गल किसपर आश्रित है ? इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान ने फरमाया है कि पृथ्वी उदधि पर आश्रित है। उदधि वायुपर आश्रित है और वायु आकाशपर आश्रित है, और आकाश सर्व वस्तुओ का आधार होने से विना आधार का है। जिस जमिनपर हम बैठे हुए है। वह १८०००० योजन मोटाईवाली पहिली पृथ्वी है। उसके खरभाग, पंकभाग और जल भाग, इस प्रकार तीन भागो मे विभाजित है।

उनमे १६००० हजार योजन मोटाईवाला खरभाग है। उसके नीचे ८४ हजार योजन मोटाईवाला पंकभाग हे और उसके नीचे ८० हजार योजन

सूक्ष्म स्नेह काय

इस प्रकरण के उद्देशा के अंत में सूक्ष्म स्नेह काय एक प्रकार का पानी, इसके संबंध में प्रश्न हैं ? इसप्रकार का पानी माप-पूर्वक गिरता है क्या ? उत्तर में भगवान कहते हैं कि, हाँ गिरता है। ऊँचा गिरता है, नीचा गिरता है और तिरछा गिरता है। यह

मोटाईवाला जलभाग है। उसके नीचे घनोदधिवलय है। बाद में घनवात वलय है। बाद में घनवातवलय और उसके नीचे तनवात वलय है, और उसके बाद असंख्य करोड़ योजन मापवाला आकाश है। उसके पश्चात दूसरी पृथ्वी है। उसके नीचे घनोदधि, घनवात, तनवात आकाश तक सात पृथ्वियों का यह क्रम शाश्वत है। जिसे अधोलोक कहते हैं। उसमें भवन-पति के देव और नारक जीव रहते हैं।

मेरुभाग के ऊपर तिरछा लोक है। जिसमें त्रस और स्थावर जीव रहते हैं।

अजीव (जड़पदार्थ) जीवाश्रित है। जैसे हमारा शरीर जो जड़ है वह जीव के आधारपर रहा हुआ है। इसके अनुसार जितने शरीर हैं वे सब जीवाधीन हैं और जीव कर्मों के आधारपर है। क्योंकि किसी काल में भी कर्म बिना जीव होता ही नहीं है। [illegible] में भी नहीं और जबतक सिद्धशिला (ईषत्प्राग्भारा) को प्राप्त नहीं होता है। तब तक जीव बिना कर्म के नहीं रह सकेगा।

अनंत दुःखों से भरपूर इस भयंकर संसार में भटकते हुए जीवों को कर्मसत्ता ने अपने आधीन किया है और कर्मों ने जीव का संग्रह किया है।

इसप्रकार [illegible] लोक स्थिति में वर्णित हेर-फेर (परिवर्तन) करने की शक्ति किसी में नहीं है। चक्रवर्ती वासुदेव, बलदेव और तीर्थंकर भी लोकस्थिति के आधीन हैं।

स्थूल शरीर नहीं होते हैं । इस अपेक्षा से वह शरीर बिना का होता है । और तैजस तथा कार्मण ये दोनों सूक्ष्म शरीर होते हैं । अतः जीव शरीर सम्पन्न भी उत्पन्न होता है ।

गर्भ मे उत्पन्न होते हुए ही जीवात्मा परस्पर एक दूसरे मे मिश्रित माता का आर्तव और पिता का वीर्य जो कलुष और किल्विष है उसका आहार करता है ।

गर्भ मे रहा हुआ जीव माता द्वारा खाये गये अनेक प्रकारके रस विकारो के एक भाग के साथ मे माता के आर्तव को खाता है । यह आहार इस जीव के चर्म, हड्डियाँ, मज्जा, केश, दाढी, रोएँ और नखरुप मे परिणत होता है । इसीकारण इस गर्भ के जीव को विष्टा, मूत्र, श्लेष्मा नाक का मैल, वमन या पित्तादि नहीं होते है ।

गर्भ में रहा हुआ जीव अपने सब प्रदेशों से आहार करता है

आसक्त बने हुए पुरुष और स्त्री का अत्यन्त घृणित, क्लिष्ठ और आंखो को किसी समय पसद न आवे वैसा वीर्य और रज का भक्षण मुझे करना पडेगा जहाँ मल, मूत्र, चरवी और खून आदि दुर्गन्धयुक्त पदार्थों की भरमार है । जहाँ हवा, प्रकाश पलग आदि सुखदायी पदार्थो का सर्वथा अभाव है । ऐसे स्थानपर नौ माह तक उल्टा शरीर करके रहना पडेगा " यह सब देखकर वह देव अरतिपरिषहकेवश बनकर इसप्रकार उदास होता हुआ अनुभव करता है कि मुझे इस दिव्य और सुगधीयुक्त शरीर को छोडना पडेगा और दुर्गन्धियुक्त स्थान मे९ माह की सख्त कैद मे रहना पडेगा । अमृत भोजन छोडकर दुर्गन्धयुक्त पुद्गलो का आहार करना पडेगा । इसप्रकार लज्जा-शील बने हुए इस देव को आहार के प्रति अरुचि हो जाती है ।

और आत्मा के द्वारा ही परिणत करता है। और श्वासोश्वास भी आत्मा के द्वारा ही लेता है।

गर्भ के जीव को आहार लेने में और उसका चय-अपचय करने में दो नाड़ियां काम करती हैं। इनमें से एक " मातृ जीवरस हरणी " नाम की नाड़ी है, उसका संबंध माता के जीव के साथ है और पुत्र के शरीर के साथ लगी हुई है। इसी से पुत्र का जीव आहार लेता है और परिणम भी करता है।

एक दूसरी भी नाड़ी है जो पुत्र के जीव के साथ लगी हुई है और माता के शरीर के साथ संबद्ध है। इससे पुत्र का जीव आहार का चय और अपचय करता है। यही कारण है कि पुत्र का जीव मुख द्वारा कोलीया कवल रूप आहार लेने में समर्थ नहीं है।

माता के अंग तीन हैं, मांस, शोणित (रक्त) और मगज (दिमाग)। पिता के अंग तीन हैं-हड्डी, मज्जा और केश-दाढ़ी रोम और नख।

ये माता-पिता के अंग संतान के शरीर में जीवन पर्यन्त रहनेवाले हैं। जितने समय तक शरीर कायम रहता है उतने समय तक वे रहते हैं। जब वह शरीर उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है। और अंत में जब नष्ट हो जाता है, तब पहले माता, पिता के अंग भी नष्ट हो जाते हैं।

गर्भ में रहा हुआ जीव माता के दुःखी होनेपर दुःखी होता है और सुखी होनेपर सुखी होता है।

अधिक से अधिक दो सौ से नौ सौ तक जनक (पिता) हो सकते हैं ।

जीव गर्भवास में अधिक से अधिक बारह वर्ष तक रहता है । स्त्री की दायीं कुक्षि मे हो तो पुत्र और बायीं में हो तो पुत्री उत्पन्न होती है । दायीं और बायीं दोनों के बीच में हो तो नपुंसक पैदा होता है ।

तिर्यंच जीव अधिक से अधिक गर्भावास मे आठ वर्ष तक रहता है ।

जब माता-पिता का संयोग होता है । तब पहली वक्त जीव माता का खून और पिता का वीर्य दोनों से मिश्रित तथा जिसे देख-कर घृणा हो ऐसे मलीन पदार्थ को खाता है । उसे खाकर वह गर्भ मे उत्पन्न होता है । उसके बाद सात दिन मे वह गर्भ कलल रुप धारण करता है । दूसरे सात दिन मे वह गर्भ बुदबुदों के समान होता है । बाद मे वह पेशी (मांस पिंड) स्वरुप बन जाता है । बाद मे वह कठिन पेशी के समान हो जाता है । पहले माह मे गर्भ का वजन एक कर्ष से कम, एक पल के समान होता है । (सोलह मासों का एक कर्ष और चार कर्ष का एक पल होता है ।) दूसरे माह मे कठोर पेशी के समान हो जाता है । तीसरे मास मे माता को दोहद उत्पन्न करता है । चौथे महीने मे माता के अंगों को पुष्ट करता है । पांचवे महीने मे उस पेशी में से पांच अंकुर फूटते है । दो पैरों के दो, दो हाथों के दो और सिर का एक, छठे मास मे पित्त और शोणित की उत्पत्ति होती है । सातवे मास मे सात सौ नसे, पांच सौ मांस पेशियां, मोटी नौ धमणिये, नाडिये और

इस शरीर में अनुक्रमानुसार अठारह पीठ करंडिका की संधियाँ होती हैं। चार पसलियों का करंड होता है। छः छः पसलियों का एक एक कडाह होता है। एक तरफ छः पसलियाँ और दूसरी तरफ छः। एक वेंत की कमर होती है। चार अंगुलियों की ग्रीवा होती है। वजन में जीभ चार पल की होती है। दो पल की आंखे होती है। चार पल का कपालवाला शिर होता है। बत्तीस दांत होते हैं। सात अंगुलियों की जीभ होती है। साडे तीन पल का हृदय होता है। पच्चीस पल का कलेजा होता है।

इस शरीर में दो अंत्र (आंतरडी) और पांच वाम होते हैं। इसप्रकार एक स्थूल अंत्र और दूसरा सूक्ष्म अंत्र। स्थूल अंत्र से निहार का परिणाम होता है और सूक्ष्म अंत्र से मूत्र का परिणाम होता है।

दो पार्श्व होते हैं। बायां और दायां। बायां सुख का परिणामवाला होता है और दायां दुख का परिणामवाला होता है।

इस शरीर में १०८ सांधे हैं। १७७ मर्म स्थान हैं। ३०० हड्डियों का समूह है। ९०० नाडियाँ हैं और ७०० नसें हैं। पांच सौ पेशियाँ हैं। नौ धमणियाँ बडी नाडियाँ हैं।

नाभि से निकली हुई एक सौ आठ नसें होती हैं। वे सिर तक पहुँची हुई होती हैं। उनको रसहरणी कहते हैं। जब तक वे नसें बराबर हैं तब तक आंख, कान, नाक और जीभ में सामर्थ्य बराबर रहता है।

पुरुष के पाच सौ, स्त्री के चार सौ सत्तर और नपुंसक के चार सौ अस्सी मांस पेशियां होती है।

मांस के पिण्ड के ऊपर ज्ञान है और उसके ऊपर कमर का पिछला भाग है। पीठ की अठारह हड्डियां कमर की हड्डीयों से लपटी हुई है।

आगे से हड्डियां है। ग्रीवा में सोलह हड्डीयां है और पीठ मे बारह पसलियाँ हैं। ※ २३

※ २३ जीवात्मा जब गर्भ मे प्रवेश करता है, तब उसके न तो द्रव्येन्द्रिय (स्थूलेन्द्रिय) और न स्थूल शरीर होता है। क्योंकि जीव ने पूर्वभव को छोडकर इस वर्तमान गर्भ को स्वीकार किया है। इसलिए उस भव का शरीर और इन्द्रियां उसी भव के अन्तिम समय तक साथ मे रहती हैं। शरीर और इन्द्रिय पर्याप्ति द्वारा प्राप्त किया हुआ शरीर और इन्द्रियो की मर्यादा उस भव के अन्तिम श्वास तक मर्यादित होती है। वर्तमान भव को स्वीकार करनेवाला यह जीव जिस क्षण कुक्षि मे प्रवेश करता है उसी समय आहार पर्याप्ति नाम कर्म का उदय होता हुआ आहार ग्रहण करता है। तत्पश्चात् शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय नाम की पर्याप्ति उदय मे आती है और शरीर की तथा इन्द्रियो की रचना होती है।

अनत शक्ति रखनेवाली कर्मसत्ता अपने विपाक काल मे उपस्थित रहती है और गर्भ मे प्रवेश करता हुआ जीव स्वय द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मो को भुगतने के लिए ही शरीरादि की रचना मे स्वय पर्याप्ति नाम कर्म के साथ कार्यान्वित होता है। क्योंकि जीव और कर्मसत्ता दोनो अपने–अपने कार्य मे सशक्त है। एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर को धारण करते हुए इस जीव को अधिक से अधिक चार समय और कम से कम एक समय

जो माता पिता का [illegible] भाव में स्थिर नहीं रह सकता है। क्योंकि अपनी कुटुम्ब-चेष्टाओं पर अंकुश नहीं रख सकता है। वे किसी प्रकार भी सन्तान के सन्मुख आदर्श नहीं बन सकते हैं। इस संसार के अन्य जीवों के प्रति अहिंसाभाव मैत्रीभाव या समभाव कैसे रख सकेंगे? यह भी इस प्रकार की आशातना है।

जिन महापाप कर्मी जीवात्माओं ने पूर्वभव में अत्यन्त निकृष्ट भाव से तीव्र रसवाले कर्म बांधे है, उनको गर्भ में से बाहर निकलने की वेदना भुगतनी ही पड़ती है। उनके लिए पापकर्मों का अधिक उदय होने से वे जीव कुरूप, भद्देवर्णवाले, दुर्गन्धयुक्त शरीरवाले, नीरसरसवाले, अस्पर्श, अनिष्ट अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, दीन-हीन स्वरवाले, अनिष्ट और प्रेम विनाके होते हैं। तथा अनादेय नामकर्म के स्वामी होने से उन्होंने अनेक प्रकार की विपत्तियो [कठिनाईयों] को भुगतने के लिए ही मनुष्य जीवन धारण किया है।

पूर्व भव में अनेक जीवों के प्रति की गई हिंसा वैर-विरोध, चोरी-मैथुन और परिग्रह आदि पापों के भार स्वरूप बना हुआ यह जीव जब गर्भावास मे प्रवेश करता है, तब गर्भ मे रहे हुअे को गतभव के वैर विरोध याद आतेही अपनी वीर्यलब्धि और वैक्रियलब्धि द्वारा मानसिक युद्ध के लिए तैयारी करता है और उसमे मस्त होकर सभवत उसी समय अर्थात् गर्भ मे रहा हुआ ही मर जावे तो नरक और तिर्यंचगति को ही प्राप्त करेगा।

जब गतभव मे की गई अरिहन्त देव [धर्म] की आराधना तथा दया-दान आदि भावो को यदि गर्भगत जीव उन-उन पूर्वभव मे किये हुए सुकृत को स्मरण करता हुआ और उन सत्कर्मों की आराधना मे मन को लगाता हुआ उसी क्षण आयुष्कर्म को समाप्त करे तो देवगति को प्राप्त करने के लिए ही समर्थ बनेगा। साराश यह है कि गर्भ मे रहा हुआ जीव नरक और देवगति को भी प्राप्त कर सकता है। इन दोनो प्रकार की गतियो मे माता

बालादि की आयु

इस उद्देशक मे अलग अलग प्रकार के मनुष्यों कि किस किस प्रकार की आयुष्य की मर्यादा हैं, और एक क्रिया करते उसमें कैसे कर्म उपार्जन होते है, इसके संबंध में वर्णन है।

जीवों की आंतरिक श्रद्धा और अश्रद्धा आदि को लक्ष्य में रखकर मनुष्यों के अलग अलग भेद गिनने में आये हैं।

एकान्तबाल, पंडित और बालपंडित

यहाँ प्रश्न पूछे जाते है कि-एकान्त बाल, एकान्त पंडित और बाल पंडित किस तरह का आयुष्य बांधते है और कहाँ जाते हैं।

यहाँ एकान्त विशेषण रखा (जोड़ा) गया है। इसका कारण यह है कि-एकान्त बाल से मिथ्यादृष्टिवाला मनुष्य समझना चाहिए। यदि एकान्तबाल नही कहते तो मिश्रदृष्टिवाला जीव भी जाना जाता।

इसीप्रकार एकान्त पंडित से साधु ही लेना है। सर्वथा प्राणातिपातादि का त्यागी, सर्व विरत साधु, वह एकान्त पंडित है और बालपंडित अर्थात् वह श्रावक जिसने स्थूल से हिंसादि पापारंभ का त्याग किया है।

ऐसे एकान्तबाल, एकान्त पंडित और बाल पंडित के आयुष्य के संबंध में जानकारी दी जाती है-

एकान्त बाल मनुष्य नैरयिक, तिर्यंच मनुष्य और देव गति संबंधी आयुष्य को बांध सकता है और उस-उस आयुष्य को बांधकर उस-उस गति में जाता है।

एकान्त पंडित मनुष्य निश्चयपूर्वक आयुष्य बांधता है और नहीं भी बांधता है, यदि आयुष्य बांधता है तो देवलोक में ही जाता है। यदि आयुष्य नहीं बांधता है तो मोक्ष में ही जाता है। क्योंकि एकान्त पंडित की दो गतियाँ बतायी गई हैं। अंत-क्रिया और कल्पोपपातिका। चार अनंतानुबंधि, और तीन मोहनीय कर्मों का क्षपक खपजाने-नाश हो जाने के बाद वह साधु आयुष्य नहीं बांधता है और कर्म खपाने (नाश करने) में कुछ बाकी रह गये हो और यदि वह आयुष्य बांधता है तो देवलोक की ही आयुष्य बांधता है।

बालपंडित मनुष्य देव की आयुष्य बांधकर देवगति में जाता है। क्योंकि बाल पंडित मनुष्य किसी उत्तम साधु से आर्य वचन सुनकर और मन में उनको धारणकर कितनी प्रवृत्तियों से रुक जाता है और कितनी प्रवृत्तियों से नहीं रुकता (अटकता) है कितनी प्रवृत्तियों के लिए पच्चक्खाण करता है और कितने के लिए नहीं भी करता है। इसप्रकार कितनी प्रवृत्तियों से अटका हुआ और कितने ही पच्चक्खाण करने के कारण वह नैरयिक का

आयुष्य नहीं बांधता है, केवल आयुष्य बांधकर देवलोक में जाता है। ✽ २४

क्रिया विचार

जैन शास्त्रों में पांच प्रकार की क्रियाएं कही गई हैं– १ कायिकी, २ आधिकरणिकी, ३ प्राद्वेषिकी, ४ पारितापनिकी और ५ प्राणाति पातिकी।

मृगघातकादि पुरुषों को शिकार आदि क्रिया करते समय

✽ २४ एकान्त बालजीव मिथ्यादृष्टि और अविरत होते हैं। वे चार गति के कर्म बाधते है। यद्यपि उनको मिथ्यात्व का उदय होता है तो भी आयुष्य बाधने के अलग अलग परिणाम होने से किसी जीव को अधिक रूप से मिथ्यात्व का उदय होता है तब बडी मात्रा मे आरंभ समारंभ परिग्रह तथा सद्बुद्धि और सद्विवेक के विरुद्ध उपदेश देनेवाला होने से वह जीव नरक और तिर्यच का आयुष्य बाधता है। जब मिथ्यात्व होता हुआ भी कोई भद्रिक परिणाम होने से कषायो से दूर रहनेवाला तथा अकाम निर्जरा, बाल तप आदि सत्कर्मो का पालन करनेवाला होने से वह जीव देवगति और मनुष्यगति की आयुष्य बाधता है। इसलिए एकान्त बालजीव चार गतियो की आयुष्य बाध सकता है, ये शास्त्र के वचन है।

उसीप्रकार बाल–पडित अर्थात् श्रावक श्राविका के भाव सम्यक्त्व धर्म मे होने से तथा जैन शासन के अनुयायी होने से पापकर्म त्याग करने योग्य है, ऐसी भावना होने के कारण अपनी शक्ति तथा परिस्थिति वश अमुक वस्तुओ का त्याग पच्चक्खाण करता है और दो घडी भी मन–वचन–काया से पाप नही करता है और नही कराता है। ऐसा अहिंसक भाव सहित सामायिक धर्म का आचरण करता है, अत वह देवगति का ही अधिकारी बनता है।

मृगों का मारनेवाला कोई शिकारी किसी जंगल में जाकर मृग मारने के लिए बाण फेंकता है तो भिन्न भिन्न स्थिति के अनुसार तीन, चार या पांच क्रियावाला कहलाता है। अर्थात् जब बाण केवल फेंकता है किन्तु बाण से किसी जीव को बींधता नहीं है, तबतक वह तीन क्रियावाला और जब बाण फेंकता है और मृग को बेंधता है तब तक चार क्रियावाला और जब मृग मर जाता है तब वह पांच क्रियावाला कहलाता है!

यहां एक विचित्र प्रश्न पूछा जाता है।

कोई पुरुष मृग का वध करने के लिए कान तक खेंचा लिया हुआ बाण प्रयत्नपूर्वक खींचकर खड़ा है। अभी तक उसके हाथ से बाण छूटा नहीं है। उसके दरम्यान दूसरा पुरुष तलवार से शिकारी का सिर उड़ा देता है। उस समय पहले से खींचा हुआ वह बाण उसके हाथ से छूट जाता है और उस बाण से मृग बींधा जाता है (बेधा जाता है) उस समय वह पुरुष क्या मृग के वैर से स्पृष्ट है या मृग पुरुष के वैर से स्पृष्ट है?

भगवान इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—जो पुरुष मृग को मारता है वह मृग के वैर से स्पृष्ट है और जो पुरुष को मारता है वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट है कारण यह है कि—

यह सिद्धान्त पहले ही प्रतिपादित किया गया है कि 'कराता' हो उसे 'कराया', 'सधाता' हो उसे 'सधाया' कहा जाता है। 'फेंकता' हो उसे 'फेंका' कहा जाता है, वगैरह। इस हेतु से जो मृग को मारता है वह मृग के वैर से स्पृष्ट और जो पुरुष को मारता है वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट कहा जाता है।

मे उत्थानादि नहीं है। वे लब्धिवीर्य से सवीर्य है किन्तु करण-वीर्य से अवीर्य है।

इसप्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक जीवों के लिए जानना चाहिए और सामान्य जीवों के समान मनुष्यों के लिए जानना चाहिए। ※ २५

※ २५ जो की जाती है वह क्रिया पांच प्रकार की है, वे निम्नानुसार है –

(१) **कायिकी**–जीव वध करने के लिए शरीर संबंधी हलन, चलन, गमन आगमन वगैरे कायिकी क्रिया कहलाती है। जीवन में अत्युत्कट राग-द्वेष–मोह–कुतूहल–अनन्तानुबंधी क्रोध–मान–माया–लोभ और अज्ञान का जोर होता है। तब इस जीव के शरीर का व्यापार प्रायः करके पश्चात स्वरूप ही होता है।

(२) " **अधिकरणिकी**–अधिक्रियन्ते घाताय प्राणिनोऽस्मिन्निति अधिकरणम् अथवा अध क्रियतेजीवोऽनेनेत्यधिकरणम् " अधिकरणम् उसे कहते है, जो जीव को नीच स्थानपर अर्थात् दुर्गति की तरफ ले जाता है।

परघात (दूसरो की हत्या करने) के लिए तलवार, तीर, बरछी, गोफण, लकडी तथा छुरी आदि तथा दूसरे जीवो को फसाने के लिए खड्डे खोदना, तथा उनको पकडने के लिए जाल फैलाना, उसे कूटपाश शस्त्र भी कहते है। जिसके द्वारा क्रिया होती है उस क्रिया को अधिकरणिकी क्रिया कहते है।

(३) **प्राद्वेषिकी**–जीवो को मारने के लिए दुष्टभाव–द्वेषभाव–घृणाभाव वगैरे से हुई क्रिया प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

(४) **पारितापनिकी**–जीवो को जाल मे फसाना, खड्डे मे डालना, पिंजरे मे या जाल मे बन्द करना या करवाना, आदि क्रिया से जीवो को परिपात होता है उसे परिपातनिकी क्रिया कहते है।

इस प्रकरण में इसके [illegible] [illegible] प्रश्नोत्तर हैं। [illegible] नियंठों के लिए क्या कहना है और इसके पश्चात् [illegible] इसमें [illegible] यक्ष तथा अन्त में पार्श्वनाथ के वंश के हुए कालास्यवेषि-पुत्र ना स्थविर अनगार के साथ हुआ संवाद वर्णित किया गया है। जिसका सार निम्नानुसार है:-

कोई भी जीव प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, कलह, कलंक-आरोपण करना, चुगली खाना, अरतिरति, दूसरे की निंदा, कपट-पूर्वक असत्य बोलना और अविवेक-मिथ्या दर्शन शल्य इसके द्वारा आत्मा भारी बनती है, और इससे विपरीत प्राणातिपाता-दिका रुकावट करने से, हल्कापन प्राप्त करते है और इन कारणों से अर्थात् प्राणातिपातादि से जीव संसार की वृद्धि करता है, लंबा करता है और ससार मे भटकता रहता है और इन कारणों से निवृत्त होने से जीव संसार को घटाता है, छोटा (संक्षिप्त) बनाता है और पारकर जाता है। ※ २६

※ २६ अकाम निर्जरा से अनेक अनेक कर्म खपाने के पश्चात् देव दुर्लभ मनुष्य अवतार को प्राप्त हुए जीव कौनसे कर्म तथा पाप करता है? जिस कारण से वे भारी (वजनदार) हो जाते है? इस प्रश्न का जवाब देते हुए ससारातीत दया के सागर भगवान ने फर्माया है कि अठारह प्रकार के पापो से आत्मा भारी बनती है। जिनके सेवन से पाप लगता है। उसे पाप-स्थानक कहा जाता है। "**स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानकम्। पापानां स्थानक मिति पापस्थानकम्**" इस व्युत्पत्ति से पापो का ही सग्रह करानेवाले इन पापस्थानको का वर्णन सक्षेप मे इस प्रकार है –

मे अन्य की वस्तु मनाना या रखना, यह चौथा पापस्थानक कहा गया है।

(४) **मैथुन**–सामान्य रूप से मिथुन भाव का सेवन करना, उसे मैथुन कहते हैं। नर के द्वारा पुरुष–स्त्री का सेवन, दो पुरुषों का सुगम अथवा दो स्त्रियों का सेवन जो अभिलाष करते हैं उसे मैथुन कर्म कहते हैं। अथवा राग मोह से विशिष्ट अध्यवसाय की तीव्र इच्छायें जीव भी मैथुन भाव का चिंतन करता है। भोगे हुए भोग याद करता है। स्वप्न में भी विषय भोग की चाह करता है, उसके अनुसार गंदे विचार, गंदा साहित्य और गंदे चित्र द्वारा मानसिक परिणामों में उत्तेजना लाकर पुरुष अपने वीर्य का अथवा स्त्री कृत्रिम साधनों द्वारा अपने रज का पतन करती है उसे भी मैथुन कहते हैं।

(५) **परिग्रह–" परि-समन्तात् आत्मानं गृह्णातीति परिग्रहः, अथवा ऽऽत्मापरिगृह्यतेऽनेनेति परिग्रहः।** मर्यादातीत धन–धान्य–पशु–वस्त्र–आभूषण आदि का संग्रह करना—वह परिग्रह है। ये उपर्युक्त पापस्थानक, द्रव्य पाप है।

शेष तेरह पापस्थानक भावपरिगह है, जो निम्नलिखित है।

(६) **क्रोध**– सकारण अथवा निष्कारण आत्मा के क्रूर अध्यवसायो को क्रोध कहते हैं। अपनी आत्मा का उपघात करनेवाला और मित्र–स्वजन आदि के मन मे अप्रीति पैदा करनेवाले क्रोध को चाडाल की उपमा दी गई है।

(७) **मान**–धर्मगुरु–विद्यागुरु–दीक्षागुरु–माता–पिता तथा वडिलो के सन्मुख अकडकर खडा रहना, तथा अपनी प्रकृति को जानबूझकर उद्धत वनाना वह अभिमान है। जाति–कुल, ऐश्वर्द, वल, रूप, लाभ, तप, श्रुत आदि का अभिमान आठ प्रकार का हैं।

(८) **माया**– आत्मा के विचारो मे अशुद्धता–वक्रता को लाना, तथा जीवन को विसवादी वनाना, माया नाम का आठवाँ पाप है।

भारी नहीं हलका नहीं, भारी व हलका नहीं परंतु भारी हलके सिवाय के है। इसीप्रकार वैमानिकों तक जानना चाहिए।

धर्मास्ति कायादि पदार्थ यावत् जीवास्तिकाय अगुरु लघु है और पुद्गलास्तिकाय गुरुलघु और अगुरुलघु भी है।

समय और कर्म अगुरु लघु है।

कृष्ण लेश्या गुरू लघु और अगुरू लघु भी है। अर्थात द्रव्य लेश्या की अपेक्षा से गुरू लघु है और भाव लेश्या की अपेक्षा से अगुरू लघु है। इसप्रकार सभी लेश्याएँ जाननी चाहिए।

दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान और संज्ञा, ये अगुरु लघु है। मनयोग, वचनयोग, साकार-उपयोग, निराकार उपयोग ये सब अगुरू लघु हैं। काय योग गुरु लघु है। काल-भूत, भविष्य और वर्तमान-सर्वकाल अगुरु लघु है।

जो गुरु, लघु आदि ऊपर बताये गये हैं, वे सही रीति से तो निश्चय-नय की अपेक्षा सबसे भारी और सबसे हलका कोई द्रव्य नहीं है। व्यवहारनय की अपेक्षा से स्थूल स्कंधों मे सबसे भारीपन और सबसे हलकापन रहता है।

परन्तु दूसरे में वह नहीं, अगुरु लघु और गुरुलघु के संबंध मे निश्चयनय कहता है कि जो द्रव्य चार स्पर्शवाले होते हैं और जो द्रव्य अरूपी होते हैं वे सब अगुरु लघु हैं। शेष आठ स्पर्शवाले द्रव्य गुरू लघु हैं।

अब निर्ग्रन्थों के संबंध में प्रशस्त क्या और अप्रशस्त क्या? उनके संबंध में कहा जाता है कि—

लाघव, कम इच्छा, अमूर्च्छा, अनासक्ति और अप्रतिबद्धता तथा अक्रोध, अमान, अकपट तथा अलोभ, ये सब निर्ग्रन्थ-श्रमणो को प्रशस्त है। तथा कांक्षा मोहनीय क्षीण होने के बाद श्रमण निर्ग्रन्थ सिद्ध होते हैं, सब दुःखों का नाश करते हैं। ※ २७

※ २७ बड़े पुण्योदय से प्राप्त हुआ और प्राप्त किया चारित्र प्रति समय दृढ होता रहे, उस सम्बन्ध में ये प्रश्नोत्तर अत्यन्त स्पष्ट हैं। भाव संयम का सर्वाङ्गपूर्ण रूप से विकास करने के लिए आत्मा में शुद्ध मैत्री, स्वाध्याय ध्यान तथा तपोधर्म की पूर्ण आवश्यकता है। जिस कारण से चारित्र जीवन में–

लाघविक– अर्थात् संयम की रक्षा के लिए स्वीकृत वस्त्र पात्र, कम्बल, रजोहरण, आदि उपकरणों में ममता नहीं का आग्रह रखना अर्थात् उपाधि जितनी कम होगी, उतनी संयम की मात्रा भी शुद्ध रहेगी। कषायों की निवृत्ति होगी और भाव मन शुद्ध होगा।

अल्पेच्छा– अर्थात् आहार पानी के विषय की अभिलाषा कम रखनी चाहिए। जिससे स्वाध्याय और आभ्यन्तर तप की प्राप्ति सुलभ हो जायेगी तथा अनादिकाल की आहार संज्ञा मर्यादा में आयेगी। अन्यथा इसके सद्भाव में मैथुन संज्ञा के लिए द्वार खुले ही रहेंगे। और इसकी उपस्थिति में परिग्रह संज्ञा जीवित रहनेवाली की तरह तैयार है। बाद में भय संज्ञा से आत्मा का सम्पूर्ण जीवन आर्तध्यान रौद्रध्यान में पूर्ण होगा।

अमूर्च्छा– अर्थात् धर्मध्यान के लिए संग्रह किये गये और दूसरों को धर्मध्यान में सहायक बनने के लिए इकट्ठे किये हुए धर्मोपकरण में आन्तरिक जीवन को बरबाद करनेवाली मूर्च्छा नहीं रखनी चाहिए।

अगृद्धि– अर्थात् आहार पानी करते समय स्वादु पदार्थों के रस में लीन होकर लम्पटता नहीं रखनी चाहिए।

जीव और आयुष्य

कोई मतान्तरवाले ऐसा मानते हैं कि एक जीव एक समय में दो आयुष्य करते हैं। इस भव का आयुष्य करते हैं और आगामी भव का आयुष्य करते हैं। भगवान महावीर इसे अस्वीकार करते हैं। गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं कि हे गौतम ! एक जीव एक समय में एक आयुष्य करता है। जब इस भव का आयुष्य करता है, उस समय में परभव का आयुष्य नहीं करता है और जिस समय मे परभव का आयुष्य करता है उस समय में इस भव का आयुष्य नहीं करता है।

इस संबंध में यह बात है कि एकही जीव एकही समय में दो आयुष्य नहीं करता है। बाकी दो जीव दो आयुष्य करते हैं। अथवा एक जीव अलग-अलग समय मे दो आयुष्य करता है। इसमें तो संदेह हो ही नहीं सकता है।

कालास्यवेषि पुत्र

ये श्री पार्श्वनाथ भगवान् के संतानीय अणगार थे। एक समय वे विचरते-विचरते वहाँ आये, जहाँ भगवान् महावीर के स्थविर विचरते थे। दोनों मिले। कालास्यवेषिपुत्र ने इन स्थविरों

अप्रतिबद्धता—दीक्षा लेने के पश्चात् अपने स्वजनो के प्रति किसी भी प्रकार का राग सबध नही रखना चाहिए।

उपर्युक्त पांच वस्तुए सयम तथा सयमी दोनो के लिए प्रशस्त है। इस से ही क्रोध, मन, माया, लोभ कम होते जायेंगे और शुक्र के तारे के समान हमारा सयम प्रति समय देदीप्यमान होगा।

से कहा, आप सामायिक नहीं जानते हैं। सामायिक का अर्थ नहीं जानते हैं। इसीप्रकार संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग को नहीं जानते हैं और इनके अर्थ को भी नहीं जानते हैं।

स्थविरों ने जवाब दिया कि हम अच्छी तरह इनके अर्थ जानते हैं। कालास्यवेषि पुत्र ने कहा-यदि आप सामायिकादि और इनके अर्थों को जानते हो तो बताओ की सामायिकादि क्या है? और इसका अर्थ क्या है?

स्थविरों ने जवाब देते हुए कहा कि हमारी आत्मा ही सामायिक है। यही सामायिक का अर्थ है। यही पच्चक्खाण का अर्थ है। यावत् यही संयम, यही संवर, यही विवेक और उसका अर्थ है।

कालास्यवेषिपुत्र-यदि ऐसा ही है तो फिर आप क्रोधादिक का त्याग करके किसलिए क्रोधादि की निंदा करते हैं?

स्थविरवृन्द-संयम के लिए ही क्रोधादि की निंदा करते हैं।

कालास्यवेषिपुत्र-निंदा, गर्हा यह संयम है। या असंयम?

स्थविर-निंदा-गर्हा यह संयम है। गर्हा सब दोषों का नाश करती है। आत्मा मिथ्यात्व को जानकर गर्हा द्वारा सब दोषों का नाश करती है। इसप्रकार हमारी आत्मा संयम में स्थापित होती है। तत्पश्चात् कालास्यवेषि पुत्र स्थविरों की इस बात को स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं परंतु अपना मत जो चारमहाव्रतवाला था, उसे त्यागकर भगवान महावीर का चारित्र जो पांच महाव्रत और प्रतिक्रमण सहित (कारण हो या न हो प्रतिक्रमण करना जो) धर्म को स्वीकार करते हैं।

बाद मे श्री गौतमस्वामी द्वारा प्रत्याख्यान और आधे कर्मादि सबंधी पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में भगवान ने स्पष्टीकरण किया है की, एक सेठ, एक दरिद्र, एक लोभी और एक क्षत्रिय (राजा) ये सब एक साथ अप्रत्याख्यान क्रिया कर सकते हैं। यह वचन अविरति के आश्रित है।

आधा कर्म दोषवाले आहार को खाता हुआ श्रमण आयुष्य के अतिरिक्त कमजोर बंध से बांधी हुई सात प्रकृतियों को मजबूत बंध से बांधता है और संसार मे बारंबार भ्रमण करता है। क्योंकि वैसा करनेवाला श्रमण अपने धर्म का उल्लंघन करता है। तथा पृथ्वीकाय और त्रसकाय की परवाह नहीं करता है।

इस के विपरीत प्रासुक और निर्दोष आहार करता हुआ श्रमण निर्ग्रंथ आयुष्य के अतिरिक्त मजबूत बधी हुई सात कर्म प्रकृतियों को कमजोर बनाता है। (आयुष्य कर्म को कदाचित् बांधता है और कदाचित् बांधता नही है।) और संसार को पार कर लेता है। क्योकि वह अपने धर्म का उल्लंघन नहीं करता है। पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवो की संभाल रखता है।

पदार्थो के स्वभाव के संबंध में कहते है कि अस्थिर पदार्थ बदलते नहीं हैं। अस्थिर पदार्थ भग्न होते है, स्थिर पदार्थ भग्न नहीं होते है। बालक शाश्वत है, बालकपन अशाश्वत है। पंडित शाश्वत है, पंडितपन अशाश्वत है। ※ २८

※ २८ पार्श्वनाथ भगवान् के शिष्य कालास्यवेषि पुत्र नाम के अणगार ने महावीर स्वामी के शिष्यो से प्रश्न पूछे कि आप निम्नानुसार पद और

करनी चाहिए। विशेष प्रकार से निंदा करनी चाहिए। गुरु की साक्षी से [illegible] इन पापो की निंदा और गर्हा करनेवाला साधक पापों से और पापकर्मों से मुक्त हो जायगा।

आधाकर्म से सिर्फ गोचरी ही नही लेनी चाहिए। किन्तु साधु महाराज के आशय से चाहे जो फल शाक आदि निर्जीव किया जाय या अचित्त बनाया जाय। सचित्त वस्तु को पकाया जाय। साधु महाराज के लिए ही मकान निर्माण करना तथा अमुक साईज का या अमुक अर्ज का कपडा तैयार करना। ये सब आधे कर्म हैं। अर्थात् साधु के लिए ही चाहे जो वस्तु तैयार करनी हो, जिसमे आरभ रहा हुआ हो, वे सब आधे कर्म कहलाते है। इस प्रकार के अपने लिये ही खास तैयार किये हुए या कराये हुए पदार्थों मे मग्न बना हुआ साधु धीरे–धीरे समिति तथा गुप्ति धर्म को भूल जाता है। तथा पृथ्वी कायादि और आगे बढकर त्रस काय की रक्षा मे भी ध्यान रहित बन जाता है। इसप्रकार होते हुए द्रव्य संयमी वारवार सात प्रकार के कर्मो को बाधता है और भाव सयम से भ्रष्ट होकर अनत ससार बढा देता हैं।

जब आधे कर्म को त्याग करनेवाला साधक बाधे हुए कर्म को भी कम करता जाता है। मोक्ष तक आगे बढता है। क्योकि आत्म कल्याण मे तत्पर साधक अपने जीवन मे किसी भी प्रकार के शाक के लिए, फल के लिए, दूध चाय के लिए ओसामण (माड) आदि के लिए, अमुक प्रकारकी चपाती (रोटी) के लिए अमुकही मिल की बनी हुई, अमुक मार्का की मलमल कपडा, अथवा कम्बल के लिए, यहाँ तक अपने शरीर के लिए भी मोह नही रखता है।

जब लोकैषणा, भोगैषणा और वित्तैषणा का इच्छुक असयमी अथवा द्रव्यसयमी साधक आसक्ति का त्याग नही कर सकता है। इसलिए चाहे जब उस मे हिंसकवृत्ति तथा परिग्रहवृद्धि की मात्रा बढ जाती है।

मिट्टी के ढेले की तरह कर्म भी अस्थिर हैं। इसलिए जीव के प्रदेशो से प्रतिसमय कर्म वर्गणा चलती रहती है। अर्थात् चलती ही होती है।

परमाणु स्वभाव

इस प्रकरण में "चलमाने चलिअे" के सिद्धांत का प्रतिपादन करने के पश्चात् अन्य मतावलंबियों द्वारा बताया गया परमाणु के स्वरूप का दिग्दर्शन कराके महावीर के सिद्धांत के अनुसार परमाणु का स्वरूप बताया जाता है। भाषा कौनसी? बोलने के पूर्व की, बोलाई जाती या बोलने के बाद की? वह बताया गया है। वैसे एक जीव एक समय मे दो क्रियाएं करता है या नहीं? नरक मे कितने समय तक जीव उत्पन्न ही नहीं होता है। इत्यादि तत्संबधी सूचनाएं देकर इस उद्देशा के साथ इस शतक की पूर्णाहुति की जाती है।

सार इसप्रकार है :-

अन्य-'चलते हुए' को 'चला' नहीं कहा जाता है। वैसे ही 'निर्जरते' को 'निर्जराया' नहीं कहा जाता है।

महावीर-'चलते हुए' को 'चला' कहा जाता है, यावत् 'निर्जरते' को 'निर्जराया' कहा जाता है।

अन्य-दो परमाणु पुद्गल एक दूसरे को चिपक नहीं सकता (सलग्न हो नही सकता) क्योंकि उनमे चिकनाहट नहीं होती है।

महावीर-दो परमाणु पुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं। क्योंकि

भाषा विचार

अन्य—बोलने के समय पूर्व की भाषा वह भाषा है। बोलने समय की भाषा वह अभाषा है और बोलने के समय बाद की भाषा बोली गई है, वह भाषा है।

महावीर—बोलने (के) पूर्व की भाषा, अभाषा है। बोली जाती भाषा वह भाषा है। बोलने के बाद की बोली हुई भाषा वह अभाषा है।

अन्य—बोलने पूर्व की भाषा भाषा है। बोलाई जाती भाषा वह अभाषा है, और बोलने बाद की बोलाई जाती हुई भाषा वह भाषा है। क्या वह बोलते पुरुष की भाषा है या नहीं, बोलते हुए पुरुष की?

उत्तर—नहीं बोलते हुए पुरुष की वह भाषा है। बोलते हुए पुरुष की नहीं।

महावीर—पूर्व की भाषा वह अभाषा है। बोली जाती हुई भाषा वह भाषा है और बोलने के बाद की बोली हुई भाषा अभाषा है। तो क्या वह बोलते हुए पुरुष की भाषा है या नहीं बोलते हुए पुरुष की?

उत्तर—वह बोलते हुए पुरुष की भाषा है, नहीं बोलते हुए पुरुष की नहीं है।

अन्य—अकृत्य दु:ख है, अस्पृश्य दु:ख है और अक्रियमाण

ईर्यापथिकी क्रिया अर्थात् मात्र शरीर के व्यापार से हुआ कर्मबंध।

अब जिससे प्राणी संसार में घूमते हैं उसे संपराय अर्थात् कषाय कहते हैं। इन कषायों से जो क्रिया होती है उसे सांपरायिक अर्थात् कषायों से हुआ कर्मबंध।

अब विचारणीय विषय यह है कि ईर्यापथिकी क्रिया का कारण अकषाय है। कषाय बिना की स्थिति है और सांपरायिकी क्रिया का कारण कषायवाली स्थिति है अतः ये दोनों परस्पर विरुद्ध क्रिया की उत्पत्ति एकही काल में, एक जीव में किस प्रकार हो सकती है? क्योंकि ये दोनो क्रियाएं परस्पर विरुद्ध है। (एक समय मे दो क्रियाओं का अनुभव हो, इस मत की उत्पत्ति करनेवाले धनगुप्त के शिष्य आर्यगंग थे। उनका इतिहास भगवती पृष्ठ २२० पर देखिये। (महावीर स्वामी सिद्ध होने के बाद २२८ वर्ष पर होने का लिखा है। विशेषावश्यक का वह उद्धृत अंश है।)

इस प्रकरण के अंत में एक प्रश्न है—नारकी जीव कितने समय तक उपपात विना के रह सकते है?

जवाब मे भगवान ने कहा कि जघन्य से एक समय तक और उत्कृष्ट से बारह मुहूर्त तक उपपात विना के कहे हैं।

"शतक समाप्तिवचन"

शास्त्र विशारद, जैनाचार्य, नवयुग प्रवर्तक, शासन तथा समाज के हितचिंतक, बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि देशों के महापंडितों को अहिंसक बनानेवाले तथा भ. महावीर स्वामी के अहिंसा तथा स्याद्वाद सिद्धांत का प्रबल प्रचार करनेवाले जगत्-

नमोनमः श्री प्रभुधर्मसूरये ।

पृथ्वीकायिकादि के श्वासोच्छ्वास

इस उद्देशक में पृथ्वीकायादि जीवों का श्वासोच्छ्वास इन श्वासोच्छ्वास में लिए जाते हुए द्रव्य, नैरयिकों का श्वासोच्छ्वास वायुकाय के जीवों का श्वासोच्छ्वास, मृतादि अर्थात् प्रासुक भोजी निर्ग्रंथ अणगार पुन. मनुष्ययोनि कैसे प्राप्त करें, वगैरे इन बाबतों का विवेचन करने के साथ स्कंदक नाम के परिव्राजक का संपूर्ण जीवन वृत्तान्त दिया गया है । सारांश यह है :-

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय (त्रीन्द्रिय) चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव श्वासोच्छ्वास लेते हुए दिखाई देते हैं । परंतु पृथ्वी कायादि एकेन्द्रिय जीव श्वासोच्छ्वास कैसे लेते हैं और छोडते हैं? यह मुख्य (विषय) बाबत है । भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि पृथ्वी कायादि एकेन्द्रिय जीव भी बाहर और भीतर का उच्छ्वास लेते हैं और अंदर तथा बाहर के निःश्वास को छोडते हैं । वे जीव द्रव्य से अनत प्रदेशवाले, क्षेत्र से असंख्य प्रदेश में रहे हुए, काल से किसी भी जाति की स्थितिवाले (एक पल या दो पल रहनेवाले वगैरे, और भाव से वर्ण–गध–रस स्पर्श वाले द्रव्यों का बाहर और भीतर का श्वास लेते हैं और उन्ही द्रव्यों का बाहर और भीतर का नि·श्वास छोडते है । ये जीव पांच दिशाओं से श्वास और निःश्वास

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है :—

वायुकाय, जिस वायु को श्वास और निःश्वास के रूप में लेते हैं और छोड़ते हैं। वे निर्जीव हैं, जड़ हैं। यदि यह श्वास निःश्वास रूप में लिया जाता हुआ और छोड़ा जाता हुआ वायु भी सजीव होता तो उसे भी दूसरे वायु की जरूरत रहती और वैसे होने से अनवस्था आ जाती है। किन्तु सही बात यह है कि वे वायुकाय के जीव जो वायु लेते हैं और छोड़ते हैं, वे जड़ हैं।

जिसप्रकार वायुकाय के जीवों के संबंध में कहा है, उसी प्रकार पृथ्वीकायिकादिक भी अपनी कायस्थिति के असंख्य तथा अनंत स्वरुप सहित मरकर वापस अपनी काया में जन्म लेते हैं।

एकेन्द्रियादि चार प्रकार के जीवों की कायस्थिति असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी है। जबकि वनस्पति की कायस्थिति अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की है। अर्थात् विषय वासना में वश हुए जीव जो वनस्पति में जन्म लेते हैं वे अनंतकाल तक वापस ऊपर आ नहीं सकते हैं।

प्रासुकभोजी अणगार का क्या ?

इस अवतरण मे अणगार के संबंध मे इसप्रकार के प्रश्न पूछे गये है :— जिसने ससार को चेक नहीं किया। संसार के प्रपंचों को कंट्रोल मे नहीं किया। जिसका संसार क्षीण नहीं हुआ। जिसका मोहनीय वेदनीय, कर्म क्षीण नहीं हुआ, जिसका संसार नहीं कटा, जिसका संसार वेदनीय कर्म व्युच्छिन्न नहीं हुआ, जो कृतार्थ नहीं, और जिसका काम पूर्ण नहीं, ऐसा मृतादि (प्रासुक भोजी)

नगरी के उत्तर पूर्व दिशा के भाग में स्थित छत्रपलाशक नाम के मंदिर में पदार्पण किया।

इस कृतंगला नगरी के पास में श्रावस्ती नाम की नगरी थी। इस नगरी में कात्यायन गोत्रीय गर्दभाल नामक परिव्राजक का शिष्य परिव्राजक स्कंदक नामक तपस्वी रहता था।

यह स्कंदक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और पुराण तथा निघंटु का भी संपूर्ण ज्ञाता था। कापिलीय शास्त्र का विशारद था। गणित, शिक्षा, आचार, व्याकरण, छंद, व्युत्पत्ति और ज्योतिष आदि दूसरे अनेक ब्राह्मण तथा परिव्राजक संबंधी नीति और दर्शन शास्त्रों में निपुण था।

इस श्रावस्ती नगरी मे पिंगल नाम का निर्ग्रंथ था। एकबार इस पिंगल ने स्कंदक के पास जाकर आक्षेपपूर्वक कहा –हे स्कंदक बोल-- (१) लोक, जीव, सिद्धि, सिद्ध ये अंतवाले है या विना अंत के है ?

(२) जीव की मृत्यु किसप्रकार हो तो उसका संसार बढे और घटे ?

इस प्रश्न को सुनकर स्कंदक विचारमग्न हो गया। मन ही मन मे शंका तथा कांक्षा युक्त होकर वह आत्मविश्वास खो बैठा, वह कोई उत्तर न दे सका। तब पिंगलक साधुने फिर से पूछा, इस प्रकार दो–तीन बार वही प्रश्न दोहराया। किन्तु स्कंदक कोई भी जवाब नहीं दे सका। मै जो उत्तर देता हूँ, वह सही होगा क्या ? इसका जवाब मुझे कैसे आये ? मैं जवाब दूँगा। उसे सुनकर सब

है और लगभग पास में आ गया है। तू उससे आज ही मिलेगा।

गौतम--भगवान यह कात्यायन गोत्रीय तपस्वी स्कंदक सिर मुंडाकर आपकी शरण में अणगारपन श्रमणता ग्रहण कर सकता है।

महावीर--हॉ, वह अणगारपन ग्रहण कर सकता है। यह वातचीत हो रही थी, इतने में वह तपस्वी स्कंदक उस स्थानपर आ पहुँचा।

स्कदक तपस्वी को समीप आया जानकर गौतम आसन से उठ खडे हुए। उनके सन्मुख जाते हैं और स्कंदक के पास आकर गौतम उन परिव्राजक से कहते हैं:-

'हे स्कंदक, आपका स्वागत करता हूँ। आपका सुस्वागत है, पधारिये, भले पधारिये।

इसप्रकार सन्मान करके गौतम ने कहा, अरे पिंगलक नामक निर्ग्रंथ ने आपसे अनेक प्रश्न पूछे हैं न ? (जिसप्रकार के प्रश्न पूछे थे, गौतम ने यहॉ उसीप्रकार के प्रश्न पूछे) और उन प्रश्नों से घवडाकर आप यहॉ शीघ्र आये है। स्कंदक, कहिये, यह वात सत्य है न ?

स्कंदक ने हॉ मे उत्तर दिया। और गौतम से पूछा, "हे गौतम, इसप्रकार के ज्ञानी और तपस्वी कौन हैं जिन्होंने आप से मेरी यह गुप्त वात शीघ्र कह दी थी ?

गौतम--स्कंदक। ये मेरे धर्मगुरु, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान महावीर स्वामी है।

समुद्घात

इस प्रकरण में केवल समुद्घात संबंधी ही हकीकत है और मूल तो वही हकीकत संक्षेप मात्र ही है। किन्तु विवेचन में और नीचे नोट मे 'प्रज्ञापना सूत्र' के आधारपर ठीक स्पष्टीकरण किया गया है। सार यह है :-

समुद्घात सात प्रकार के है। वेदना समुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, वैक्रिय समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात।

समुद्घात का सक्षेप में अर्थ इसप्रकार है :-

एकमेक (परस्पर) होने के साथ प्रबलता से हनन करना वही समुद्घात है। आत्मा मे दो शक्तियाँ है। संकोचशक्ति, और विकास शक्ति। इन दो शक्तियो के प्रताप से ही आत्मा एक छोटे से छोटे चींटी के शरीर मे रहती है और स्थूल से स्थूल हाथी के शरीर मे रहती है। आत्मा अपने प्रदेशों को अखिल ब्रह्माण्ड मे फैला सकती है। आत्मा अमुक कारणो से अपने प्रदेशो को शरीर से बाहर फैला सकती है और संकुचित कर सकती है। इसी क्रिया को समुद्घात कहते है। जिसप्रकार के समुद्घात मे आत्मा वरतती हो उसके अनुभव ज्ञान के साथ एकमेव होकर उन संबंधी कर्मो को आत्मा से सर्वथा भिन्न (जुदा) करती है।

नरकभूमि संबंधी—

इस उद्देशक मे मात्र नरकभूमि संबंधी वर्णन है। वह इस प्रकार है :—

पृथ्वियाँ सात है। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमःप्रभा।

यह अधिकार जीवाभिगम सूत्र में है विशेष प्रकार से है। ऐसा टीकाकारने बताया है। ※ ३१

※ ३१ अनादिकाल मे कर्मवश भ्रमण करता हुआ यह जीव अनतबार नरकभूमि मे गया है। जयां निरतर अशुभतरलेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया का अनुभव होता है।

गतिनाम कर्म, जाति नाम कर्म, शरीर नाम कर्म, और अगोपाग नाम कर्म सहित नरकगति के नारक जीवो मे लेश्या आदि भाव किसी काल मे भी शुभ नही होते है।

रत्नप्रभा मे कापोत लेश्या होती है। शर्कराप्रभा मे अत्यन्त तीव्रतर कापोत लेश्या होती है। वालुकाप्रभा मे कापोत लेश्या अधिक और नीललेश्या थोडी होती है।

पकप्रभा मे नीललेश्या होती है।

धूम प्रभा, मे अत्यन्त तीव्रतर नीललेश्या अधिक होती है और कृष्णलेश्या होती है।

क्षेत्र से-असंख्य प्रदेशवाला है, असंख्य प्रदेश में अवगाढ है। उसका अंत भी है।

काल से-आदिवाला है और अंत बिना का है।

भाव से-अनंतज्ञान पर्यवरूप, अनंत दर्शन पर्यवरूप है। अनंत अगुरु लघु पर्यवरूप है। उसका अंत नहीं है।

(५) जीव संबंधी

अर्थात जीव किस प्रकार मरता है। तब उसका संसार बढ़ता है और कम होता है? मृत्यु (मरने) के २ प्रकार है- (१) बाल मरण, और (२) पंडित मरण।

बालमरण १२ प्रकार से है।

(१) वलयमरण-तड़पते तड़पते मरना।

(२) वशार्तमरण-पराधीनता पूर्वक, इन्द्रियों के वश होकर मरना।

(३) अंतःशल्यमरण- शरीर में तीर भाला शस्त्रादि से मरना अथवा सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर मरना।

(४) तद्भवमरण-मनुष्य शरीर में मरकर पुनः मनुष्य बनना।

(५) पहाड़ या ऊँचे स्थान से गिरकर मरना।

(६) वृक्षपर से गिरकर मरना।

(७) जलप्रवेश, समुद्र आदि में डूबकर मरना।

(८) अग्नि में जलकर मरना।

(९) विष खाकर मरना।

(१०) तलवार, छुरी, भाला आदि से मरना।

(११) गले में फांसी लगाकर मरना।

(१२) बाघ, सिंह, सर्प, बिच्छू, कुत्ते आदि से मरना।

मरने की इच्छा न होने पर भी उपर्युक्त बारह प्रकार से मरा हुआ जीव बहुतबार नरकों में जाता है और पुनः पुनः चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

पंडित मरण

यह भी दो प्रकार का है–

(१) पादपोगम (ज्ञान तथा वैराग्य पूर्वक वृक्ष के माफिक स्थिर रहकर मरना।

(२) भक्त प्रत्याख्यान (वैराग्यपूर्वक पापों को, पाप भावनाओं को, तथा आहार आदि को त्यागकर मरना।)

पादपोगम भी दो प्रकार का है।

(१) निर्हारिम (मुरदे को बाहर निकालकर अग्निसस्कार करने मे आवे।)

(२) अनिर्हारिम–ऊपर से विपरीत।

यह दो प्रकार का मरण प्रतिकर्म विना का है। जब भक्त प्रत्याख्यान मरण प्रतिकर्मयुक्त है।

ये दोनों प्रकार के पंडित मरण द्वारा मरता हुआ जीव नैरयिक के बहुत से भवों को प्राप्त नहीं करता है। तथा ससार को कम करता है।

संयम यात्रा और संयम का निर्वाहक आहार के निरूपण को प्रकाशित करें।

स्वयं महावीर ने स्कंदक को दीक्षित किया और धर्मपर प्रकाश डाला। बाद मे भगवान महावीर की आज्ञानुसार उत्तम चारित्र का पालन करने लगा और स्थविरों के साथ विचरने लगा और उन्होंने इन स्थविरों द्वारा ग्यारह अंगों का अभ्यास किया।

तत्पश्चात स्कंदक अणगार ने अपना जीवन एक के बाद एक अलग-अलग तपस्याएं करने में व्यतीत किया है। भगवतीसूत्र में इन तपस्याओ का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

यहाँ सक्षेप से कहता हूँ—

१ मासिक भिक्षु प्रतिमा
२ द्विमासिक ,,
३ त्रिमासिक ,,
४ चतुर्मासिक ,,
५ पंचमासिक ,,
६ छ मासिक ,,
७ सप्तमासिक ,,
८ प्रथम सात रात्री दिवस की भिक्षु प्रतिमा
९ दूसरी सात रात्री दिवस की ,,
१० तीसरी सात रात्री दिवस की ,,
११ चौथी सात रात्री दिवस की ,,
१२ पांचवीं सात रात्री दिवस की ,,

इसके अनुसार ग्यारह अंगों के पश्चात् इन्होंने इनके फुटकर छट्ठ, अट्ठम, दशम, द्वादशादि तप तथा मास मास खमण, और मास खमण वगैरह तपस्याएं कीं।

स्कन्दक अणगार का शरीर घोर तपस्याओं के कारण सूख क्षीण हो गया। अस्थिपंजर (हड्डियाँ) मात्र चर्म (चमड़ी) से ढका हुआ रह गया। जब वह चलता था तब हड्डियां खट खड बजती थी। शरीर पर नसें स्पष्ट झलकती थीं। वह मात्र अपने आत्मबल से ही गति और स्थिति करने लगा। बोलते हुए या बोलने के बाद भी उनको कष्ट अनुभव होने लगा। यद्यपि शरीर से कृश हो गया था तथापि वह तपस्तेज से शोभित रहा।

एक समय उनके मन में विचार उठा कि " शरीर कृश होते हुए भी अभीतक मेरे शरीर मे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार पुरुषार्थ है। इसलिए भगवान से आदेश लेकर मै अनशन करूं, अर्थात् शरीर की माया छोड़कर विशेष प्रकार से आत्मसाधना करूं।

वह प्रातः भगवान की सेवा मे जाता है। स्वयं भगवान उसका संकल्प बता देते है और अनशन करने की आज्ञा देते है। तत्पश्चात् वह बडे पर्वतपर गया और एक शिला पट्टक पर दर्भ का बिछौना फैलाकर पूर्व दिशा मे मुखकर पर्यंकासन पर बैठ गया तथा दस नख सहित दोनों हाथ शामिलकर सिर से झुककर भगवान को नमस्कार किया तथा वंदना की और भगवान के गुणगान कर महाव्रतों का पुनः उच्चारण किया तथा चार प्रकार के आहार त्याग किया। फिर वृक्ष की तरह स्थिर रह गया।

और नाना प्रकार की दुर्गति मे कोई आहार मांस [illegible] मद्य तथा व्यसन पारदारा (अब्रह्मचर्य) भाग मे वृद्धि, व्यापार मे गडबड (नानी तथा [illegible] माल का मिश्रण) करने का पाप तथा अनेक जीवों की हत्या, असत्य (झूठ) बोलना, परस्त्रीगमन आदि अनेक प्रकार के कुकर्म करके अगण्य जीवो ने पाप कर्म, हिंसा, मारपीट, झगडा आदि किये है। इन सब पापो की गठरी बांधकर नरक भूमि मे उत्पन्न हुए जीव विभग ज्ञान द्वारा सारे नरक के नारक जीवो को वैरी समझकर चुनौती देते है और अपने वैर को याद करके वे नारक जीव आपस मे अपने आयुष्य कर्म पर्यन्त भाला, तलवार, बरछी, मुद्गर मुशल, बाण शक्ति कटारी, तोमर वगैरह शस्त्रो से लडाई करते ही रहते है। इससे लथपथ हो जाते है। मांस और हड्डियां बाहर निकल जाय वहां तक लडते ही रहते है। वहां इन नारको को कोई छुडानेवाला नहीं है।

मनुष्य जीवन मे पुत्र, स्त्री, माता और (पुत्रियो) कन्याओ के लिए जो पाप किये थे, उन पापो को खुद अकेले को ही भुगतने के सिवा दूसरा कोई मार्ग नही। पूर्व भव मे अत्यन्त क्लिष्ट कर्मों के कारण असुर गति को प्राप्त हुए परमाधामि स्वभाव से ही पापकर्म मे रत होते है। अत्यन्त रौद्र स्वभाववाले होते है। वे नारक जीवो को भयकर से भयकर निम्नानुसार वेदनाए देते है।

लोहे का पिघाला हुआ रस पिलाते है।
लोहे की लाल अगारे के समान पुतलीओ से आलिगन कराते है।
लोहे के हथोडे से पीटते है।
अस्त्रो से अवयव छेदे जाते हैं।
गर्म खौलते हुए तेल से स्नान कराते है।
कुभी पाक मे पकाते है।
लोहे की सलाईयो से मारते है।
आरे से चिरवाते है।

शरीर को कड़ाई में डालकर तलते हैं ।

भट्टी में रखकर सेकते हैं ।

सिंह, बाघ, तेंदुआ, कुत्ता, शृगाल, सर्प, नेवला आदि जानवरों द्वारा खिलाने की व्यवस्था की जाति है ।

इस जीव ने उपर्युक्तानुसार नारकीय वेदनाओं को अनेकबार तथा अनंत प्रकार से भुगती है ।

॥ तीसरा उद्देशा समाप्त ॥
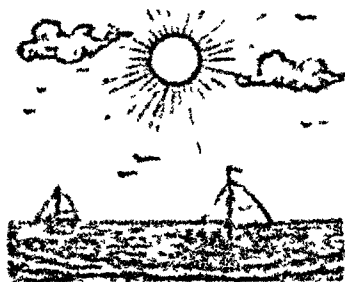
इन्द्रियाँ

इसमे इन्द्रिय संबंधी वर्णन है। इन्द्रियाँ पांच कही गई है-स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह अधिकार प्रज्ञापना सूत्र मे है।

दूसरी प्रकार से इन्द्रियों के दो भेद बताये गये है- १ द्रव्येन्द्रिय और २ भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के २ भेद है। निर्वृत्ति और उपकरण। भावेन्द्रिय के २ भेद है। लब्धि और उपयोग।

यहाँ पांच इन्द्रियों का एक यंत्र दिया गया है, वह जानने योग्य है। ※ ३२

※ ३२ इन्द्रियाँ पाच ही होती है। दूसरे मतवाले पाच कर्मेन्द्रियो को पृथक् मानते है। परतु उन सबका समावेश स्पर्शेन्द्रिय मे हो जाने से ये पाच इन्द्रियाँ ज्ञानेद्रिय कही जाती है।

इन्द्र अर्थात् आत्मा जो सब पदार्थों मे उत्कृष्ट ऐश्वर्य का मालिक होने से सर्वथा स्वतत्र है। अत भोक्ता है।

अपने (खुदके) शुभाशुभ कर्मों को भुगतनेवाली आत्मा है। शरीर और इन्द्रियाँ साधन है। इनके माध्यम से जीवमात्र अपने कर्मों को भुगतता है।

इस आत्मा का अस्तित्व करानेवाली, बतलानेवाली, सूचित करनेवाली और ज्ञान प्राप्त करानेवाली इन्द्रियाँ हैं।

से आत्मा का अत्यासन्न होने से आत्मा को विषय ग्रहण करने में जो शक्ति प्राप्त होती है, उसे लब्धिभावेन्द्रिय कहते है, और आत्मा जब उपयोगी बनकर जिन विषयों का ग्रहण करती है, उन्हें उपयोगेन्द्रिय कहते है।

सीमातीत विषय वासना मायाचार परिग्रह की ममता तथा अन्य कट पापों के कारण स्पर्शेन्द्रिय अवतार को प्राप्त हुए अनन्तानन्त जीवों को रसेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय के आवरणीय कर्मों का उदय होने से उनको जीभ, नाक, आख और कान इन्द्रियो से सर्वथा वंचित रहना पडता है। उनमे उनका स्पर्शेन्द्रिय नाम की एक ही इन्द्रिय होने से अस्पष्ट वेदनाओं को भुगतते हुए छेदन–भेदन सहन करते, सर्दी–गरमी तथा हिमपात की तीव्र वेदना को वेदते हुए जीव असंख्य और अनन्तकाल तक वही रहते हैं।

इसमे पृथ्वी काय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवो का समावेश हो जाता है। स्थावर नामकर्म के कारण स्थावर कहे जाते है। दो इन्द्रियावाले जीवो के स्पर्श और जीभ इन्द्रिया होती हैं। जब नाक, आख और कान इद्रियो के आवरण कर्मों का प्रबल उदय होने से उनके नाक, आख और कान नही होते हैं। इसलिए तीन इन्द्रियो के ज्ञान से वे हमेशा के लिए वचित रहते है।

दो इन्द्रियांवाले जीवो मे सब प्रकार के छोटे, बडे, शख, कौडा, कौडी, पेट मे होनेवाली कृमिया, खराब खून को चूसनेवाले जोक, अलसिया बासी चपाती, रोट, भात, नरम पुरी वगैरह मे उत्पन्न होनेवाले कीडे, लकडी के कीडे, पेट मे, फुसिया मे, मस्से मे, कुडे–करकट मे पैदा हुए तरह तरह तरह के कृमिया, बासी पानी मे उत्पन्न होनेवाले जलजतु, छोटी–बडी सीप तथा वाले (नारु) के जीव वगैरह आ जाते है।

तीन इन्द्रियवाले जीवो के चक्षुरिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय का आवरण होने से उनको उन विषयो का ज्ञान नही होता है। इसमे छोटे–मोटे कान

शतक दुसरा   उद्देशक-५

देव और वेद

इस प्रकरण में एक जीव एक काल में दो वेदों (स्त्री वेद और पुरुष वेद) को वेदते हैं या नहीं ? तत्पश्चात गर्भ विचार, उसके बाद पार्श्वनाथ के शिष्यों के साथ तुंगिका के श्रावकों के प्रश्नोत्तर।

राजगृह मे श्री गौतम स्वामी का भिक्षाटन, गौतम स्वामी द्वारा भगवान को पूछकर किया हुआ निर्णय और अन्त मे राजगृह मे स्थित गर्म पानी के कुंडो का वर्णन है।

कितने ही लोग ऐसा मानते हैं कि—निर्ग्रन्थ मर कर देव होने के बाद वह देव, वहाँ दूसरे देव या दूसरे देवियां के साथ विषय सेवन नहीं करता है। किन्तु खुद के दो रूप करते हैं। एक देव का और दूसरा देवी का। ऐसा करके वे कृत्रिम देवी के साथ विषय वासना करते है। ऐसा करने से एक जीव एक काल मे दो वेदका अनुभव करते है। ये भी सिद्ध होते है। पुरुष वेद और स्त्री वेद, परन्तु वह बात ठीक नहीं है। यहाँ से मरकर उत्पन्न हुए देव दूसरे देवो के साथ तथा दूसरे देव की देवियो के साथ उनको वश करके तथा अपनी देवियों के साथ भी परिचारणा विषय सेवन करते है। वह स्वयं के दो रुप बनाकर परिचारणा नहीं करता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि—एक जीव एक

कायभवस्थरूप में चौबीस वर्ष तक रहता है। वह इसप्रकार किसी जीव का शरीर गर्भ में रखा गया हो बाद में वह जीव उस शरीर में माता के उदर में बारह वर्ष तक रहकर मर जाता है। फिर स्वयं रचे गये उस शरीर में उत्पन्न होकर पुनः बारह वर्ष तक रहता है। इसप्रकार चौबीस वर्ष तक कायभवस्थ रूप में रहे, अथवा ऐसा भी कहते हैं कि बारह वर्ष तक रहकर फिर दूसरे वीर्य द्वारा वही उसी शरीर में बारह वर्ष की स्थिति युक्त होकर जन्म लेता है, इसप्रकार चौबीस वर्ष गिने जाते है। ※ ३३

※ ३३ उदक गर्भ के लिए संपूर्ण जानकारी भगवतीसूत्र के विवेचन में जान लेनी चाहिए।

गर्भगत जीव कम से कम और अधिक से अधिक कहाँ तक रहेगा? उसकी चर्चा करने के बाद एक जीव के एक साथ कितने पिता हो सकते हैं? उसके जवाब में नरदेव और भावदेव द्वारा पूजित देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया है कि, दो सौ की संख्या से लेकर नौसौ की सख्या तक एक जीव के पिता हो सकते है। अनत ससार की माया भी अत्यन्त अगोचर होती है। किसी क्षेत्र की अपेक्षा से यह बात होगी। जैसे एक गाय की योनि मे एक सांड का वीर्य गिरा और उसके बाद दूसरे दूसरे दो सौ से नौ सौ तक साडो का वीर्य उसमे जो गिरेगा तो उस गाय से जन्म लेनेवाले एक वछडे के पिता भी उतने ही हो सकते है। क्योंकि सबके वीर्य से एक वछडा जन्मा है।

ससार चक्र मे कोई बात नही हो सके ऐसा है ही नही। किन्तु ये सब अगम निगम की बाते केवल ज्ञानी के सिवाय दूसरा कोई नही जान सकता है। ज्ञातव्य बातें जान लेने के बाद मैथुन कर्म की तीव्रता और अतिशय भयानकता भी जानने को मिलती है।

मनुषी और पंचेन्द्रिय तिर्यंची संबंधी योनिगत वीर्य कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक बारह मुहूर्त तक योनिभूत-रूप में रहता है।

मैथुन का सेवन करनेवाले मनुष्य का कितना घोर असंयम होता है, सूत्रकार इसे उदाहरण देकर समझाते हैं, कि एक बांस की नली में ठूस ठूस कर रुई भरी हुई हो, फिर तपाये गये सोने की सली को उसमें डालकर उस रुई को जलाये, इस प्रकार मैथुन का सेवन करनेवाले मनुष्य का असंयम होता है।

पार्श्वनाथ के शिष्यवृन्द

अब यहां श्री पार्श्वनाथ के शिष्यों और तुंगिका के श्रावकों के द्वारा प्रश्नोत्तरों की चर्चा की जाती है। इस प्रसंग में तुंगिका नगरी के उत्तर पूर्व विभाग में पुष्पवती नाम का एक मंदिर (चैत्य) था। इस मन्दिर में श्री पार्श्वनाथ के शिष्य आकर ठहरे थे। तुंगिका के श्रावकों को इसकी सूचना मिल गई। सब श्रावक

[illegible] देनेवाले, महापाप कर्म के उपार्जन करने- [illegible] जीव को [illegible] यातना पहुंचाकर मारने [illegible] कर्म का निकाचन बांधकर दूसरे भव में [illegible] असुर जाति में जन्म लेना [illegible]

[illegible] हो सकती है [illegible] जवाब [illegible] है, कि [illegible] में [illegible] और [illegible]

एकत्रित होकर विचार करते हैं कि उनको वंदना करने तथा उपदेश सुनने के लिए जाना चाहिए। ऐसा निश्चित कर सुंदर वस्त्रों से सज्जित होकर सब एक साथ उस मन्दिर की तरफ चले। वे श्रावक उन मुनि राजों के पास जाते हुए पांच अभिगमों का सम्यक् पालन करते हैं। अर्थात सचित्त द्रव्य दूर करते हैं। अचित्त वस्तुओं को साथ मे रखते हैं। अपने अपने दुपट्टे को जनोई (जनेऊ) की तरह धारण करते हैं। मुनिराज के दर्शन करते ही वे हाथ जोडते हैं, और मन को एकाग्र करके उनके समीप जाते हैं। तत्पश्चात् वे तीन प्रदक्षिणा करते हैं।

फिर वे स्थविर एकत्रित हुई उस सभा को चार महाव्रतवाले

मे दो लाख से नौ लाख तक जीव उत्पन्न होते है। जो पचेन्द्रिय जीव होते है, इसमे से जिसका आयुष्य कर्म अधिक हो तो एक, दो या तीन जीव नौ माह पूरे करके ससार के स्टेजपर आने के लिए समर्थ बनते है। शेष सब जीव वही मर जाते है। नौ मे माह से जन्म लेनेवाली जैसे सतान कहलाती है। उसीप्रकार माता की कुक्षि मे ही मरे हुए दो से नौ लाख तक जीव भी सतान की तरह ही कहलाती है। क्योकि एकबार के मैथुन से उत्पन्न होनेवाला जीव उसके वीर्य मे उत्पन्न हुआ है और मरा है। जीवो की उत्पत्ति ही जीव हत्या का कारण बनती है। मनुष्य के असयमी जीवन के कारण से ही यह जीव वहाँ उत्पन्न होता है और मरता है। इसमे जो उत्पादक होता है, उसको ही जीव हत्या का पाप लगेगा। स्त्री भी असयम के कारण बेकाबू बनकर मैथुन कर्म मे मस्त बनी रहती है। तब वह भी जीव हत्या के पाप की भागीदार बनती है।

इसप्रकार के घोर पापो से बचानेवाले श महावीर स्वामी के शासन के अतिरिक्त दूसरा एक भी शासन नही है। क्योकि सयम के सर्वतोमुखी

कालिका पुत्र नाम के स्थविरने कहा कि–पूर्व के तप से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

मेथिल नाम के स्थविर ने कहा कि–पूर्व के सयम से देव देवलोक मे उत्पन्न होते है।

आनंदरक्षित नाम के स्थविर ने कहा कि–कर्मीपन के कारण देव देवलोक मे उत्पन्न होता है।

काश्यप नामक स्थविरने कहा कि–संगिपन के कारण देव देवलोक मे उत्पन्न होते है।

विशेष रूप से इन स्थविरों ने यह भी कहा कि–" यह वात सच्ची है, इसलिए कही है, किन्तु हम अपने अभिमान से यह वात नहीं कहते है। "

तत्पश्चात नमस्कारकर हर्षित हुए श्रावक तुंगिका नगरी मे आये। और वे स्थविर पुष्पवती चैत्य (मन्दिर) से विहार कर चले गये।

इस समय श्रमण भगवान महावीर स्वामी के मुख्य शिष्य गौतमस्वामी छठ छठ की तपस्या करके सयम और तपसे अपनी आत्मा को भावित करते विचरते थे। भगवान महावीर के साथ वे राजगृह के समीप गुणशील चैत्य (मंदिर) मे आये। वे पहली पौरुपी मे स्वाध्याय करते है। दूसरी पौरुपी मे ध्यान करते है। और जब आहार करने का समय होता है तब तीसरी पौरुपी मे शारीरिक और मानसिक चंचलता से रहित होकर 'मुहपत्ति की पडिलेहणाकर तथा वस्त्र पात्र का पडिलेहण' करके साथ मे पात्र लेकर गोचरी के लिए निकल जाते है।

भगवानने कहा कि यह बात सत्य है कि पूर्व के तप से, पूर्व के संयम से, कर्मिपने से और संगिपने से देव, देवलोक में उत्पन्न होते हैं ।

इसके बाद गौतम स्वामी ने पूछा कि उसप्रकार के श्रमण या ब्राह्मण की पर्युपासना करनेवाले मनुष्य को उनकी सेवा का क्या फल मिलता है ?

भगवान द्वारा पर्युपासना का फल बतलाने के बाद एक-एक का फल पूछने पर यह निष्कर्ष निकाला कि उपासना से श्रवण, श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से सयम, संयम से अनास्रव, अनास्रव से तप, तप से कर्म का नाश कर्म के नाश से निष्कर्मपन और निष्कर्मपन से सिद्धि—अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है । ※ ३४

※ ३४ तुगीका (तुगिया) नगरी के श्रावक और श्राविकाओ का आन्तरिक जीवन का वर्णन करते हुए भगवान ने फरमाया है कि 'वे बहु जणस्स अपरिभूआ' इस नगरी के श्रावक ऐक्य और शारीरिक बल से सशक्त होने के कारण किसी से भी दबने योग्य नही थे ।

गृहस्थ धर्म मे सवा विश्वा की दया होती है । इसलिए वे अपने कुटुम्ब की, समाज की और धर्म की रक्षा के लिए पूरे समर्थ थे ।

"निरपराधि त्रस जीवो को जान बूझकर नही सताना चाहिए" इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी द्वारा फरमाये हुए गृहस्थ धर्म मे अहिंसा धर्म का पालन करने के लिए सामाजिक द्रोहियो को दड देने मे अपने बाल बच्चो को सयम की मर्यादा मे रखने के लिए प्राय करके दड नीति का आश्रय लेना पडता है ।

देव

इस प्रकरण मे देवों के भेद संबंधी विचार है। सार यह है कि देव चार प्रकार के है–भवन पति, वानव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

इस संबंध मे वर्णन प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे 'स्थान' नाम के पद मे आता है। ※ ३६

※ ३६ "दीव्यन्ति-द्योतन्ते-मोदन्ते-माद्यन्ति, इति देव" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो भिन्न भिन्न प्रकार की क्रीडा करनेवाले, सब तरह से प्रकाशमान आधि व्याधि से दूर रहने के कारण खुश रहनेवाले, पुण्य कर्म को भोगते हुए प्रसन्न चित्त से आयुष्य पूर्ण करनेवाले, "देव" होते है। उसको किसी प्रकार की गर्भ की वेदना भुगतनी नही पडती है। वृद्धावस्था के दुख या मरण की शारीरिक वेदना भी नही होती है।

मनुष्य के अवतार मे अनत तथा असख्य जीवो की रक्षा, सयम, सराग सयम, श्रावक धर्म, बालतप, अकाम निर्जरा, दान, सत्कर्म वगैरह पुण्य कर्मो की उपार्जना की गई होने से देवगति को प्राप्त करनेवाले भाग्यशाली देवशय्या पर उत्पन्न होते है। उनके शरीर की काति, देदीप्यमान शारीरिक प्रभा, सुदर सस्थान, कर्पूर के जैसा उज्ज्वल शरीर, भूख–प्यास, शोक–सताप और वियोग की वेदना बिना का जीवन, सुदर-स्वच्छ विमान, खुद के भवनो में स्वेच्छानुसार रहना, मनपसद आभूषण, वस्त्र तथा शस्त्रो की प्राप्ति मे मस्त होकर आमोद प्रमोद करनेवाले देवताओ को हमारे से अधिक असख्य अनत

प्रतिछन्न, आकाशग इसप्रकार से भूत नाम के व्यन्तर नौ प्रकार के हैं।

कुष्माड, पटक, जोष, आह्नक, काल, महाकाल, चौक्ष, अचौक्ष ताल पिशाच, मुखर पिशाच, अधस्तारक, देह, महाविदेह, तूष्णीक और वन-पिशाचक। इसप्रकार पिशाच व्यतर १५ प्रकार के होते हैं।

तीसरे प्रकार के ज्योतिष्क देवता निम्नानुसार पांच प्रकार के है—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा।

आकाश मे भी उनका यही क्रम है। सबसे नीचे सूर्य फिर चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं।

मेरु पर्वत की समतल भूमि मे ८०० योजन ऊपर जाने से सूर्य का विमान आता है। उससे ८० योजन ऊपर चन्द्र का विमान है। उससे २० योजन ऊपर जाने से तारागण आते हैं।

मनुष्य लोक मे मेरु पर्वत के चारो तरफ गति करनेवाले १३२ सूर्य और चन्द्र है, २८ नक्षत्र हैं, ८८ ग्रह हैं और ६६९७५ कोडा कोडी तारा हैं।

विमान मे रहनेवाले वैमानिक देव १२ प्रकार के है। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

इसके ऊपर नौ ग्रैवेयक देव है और सबसे ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ सिद्ध देव है। ये सब एकावतारी होते हैं।

॥ सातवा उद्देशा समाप्त ॥

समयक्षेत्र

इस प्रकरण में समय क्षेत्र का प्रश्न है। अढाई द्वीप और दो समुद्र। इसे समय क्षेत्र कहते हैं। इसमें यह जंबू द्वीप सब द्वीप और समुद्रों के बीच मे है। (यह अधिकार जीवाभिगम सूत्र मे विशेष रूपसे वर्णित है।

समय अर्थात काल। काल से उपलक्षित जो क्षेत्र है उसे 'समय क्षेत्र' कहते हैं। कहा जाता है कि सूर्य की गति से परिचित दिन और मासादि रूप काल यह मनुष्य क्षेत्र मे ही है। इससे आगे नहीं है। क्योंकि आगे रहनेवाला सूर्य गतिवाला नहीं है।

जंबू द्वीप से लेकर मानपोत्तर पर्वत तक मनुष्यलोक है। जिस क्षेत्र मे अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, श्रावक और श्राविकाएं है। वह मनुष्यलोक है। जहाँ महान् मेघ बरसते हैं, जहाँ अग्निकाय है, जहाँ चंद्रग्रहण और सूर्यग्रहण होता है वह मनुष्यलोक है।

पांच द्रव्य

जैन शास्त्रों में छः द्रव्य माने जाते हैं। जिनमे पांच अस्तिकायरूप है। और छठा द्रव्य है काल। अस्तिकाय द्रव्य ये

हैं-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। इन पांच अस्तिकायों का वर्णन इस प्रकरण में है। जिनका सार यह है :-

सर्वप्रथम इसकी जानकारी होनी चाहिए कि 'अस्तिकाय, इसका अर्थ क्या है? 'अस्ति' का अर्थ प्रदेश और 'काय' का अर्थ समूह, अर्थात् प्रदेशों का समूह। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि-'अस्ति यह तीन कालों का सूचक निपात (अव्यय) है। अर्थात् जो होता है, हुआ है और होगा, इसप्रकार जो प्रदेशों का समूह, इसका नाम है अस्तिकाय।

ऐसे अस्तिकाय स्वरूप पदार्थ पांच हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय।

धर्मास्तिकाय अरूपी, अजीव और शाश्वत है। अवस्थित लोक द्रव्य है।

धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक है। क्षेत्र से लोक प्रमाण अर्थात् जितना लोक है उतना है। काल से नित्य है और भाव से वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बिना का है। गुण से गति गुणवाला है।

इसीप्रकार अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय भी है। विशेषता यह है कि अधर्मास्तिकाय गुण से स्थिति गुणवाला है। आकाशास्तिकाय क्षेत्र से लोकालोक प्रमाण अर्थात् जितना लोकालोक है, उतना है, अनंत है और गुण से अवगाहना गुणवाला है। ऊपर धर्मास्तिकाय का स्वरूप बताया है, और अधर्मास्तिकाय

का गुण स्थितिगुण बनाया। इसका कारण यह है कि इस लोकाकाश में ऐसे दो पदार्थ सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है। जो जीव और पुद्गल को गति में और स्थिति में सहायक होते हैं जैसे मछली को चलने में पानी सहायक होता है और खड़े रहने मे जमीन सहायक होती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की गति जिसकी सहायता से होती है, उसका नाम धर्मास्तिकाय है। जीव और पुद्गल की स्थिति (स्थिरता) जिसकी सहायता से होती है, उसका नाम अधर्मास्तिकाय है।

अब जीवास्तिकाय–द्रव्य से अनंत जीव द्रव्य रूप है। क्षेत्र से लोक प्रमाण है। काल से हमेशा नित्य है। भाव से रंग, गंध, रस, स्पर्श बिना का है। गुण से उपयोगगुणवाला है।

अब पुद्गलास्तिकाय का स्वरूप देखिए–पुद्गलास्तिकाय में पांच रंग, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श है। यह अस्तिकाय रूपवाला है। अजीव है, शाश्वत है और अवस्थित लोक द्रव्य है। सक्षेप मे–पुद्गलास्तिकाय द्रव्य से अनंत द्रव्यरूप है। क्षेत्र से मात्र लोक प्रमाण है। काल से नित्य है। भाव से रंगवाला, गंधवाला, रसवाला और स्पर्शवाला है। गुण से ग्रहण गुणवाला है।

ये पांच पदार्थ अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय का अर्थ प्रदेशों का समूह, धर्म, अधर्म, आकाश जीव और पुद्गल ये पांच द्रव्य अपने समग्र प्रदेशों से युक्त होते है, अतः धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय कहलाते है। उन-उन द्रव्यों को एक, दो, पांच पचीस, जबतक

मति ज्ञान संबंधी अनंत पर्यायों के उपयोग को मति ज्ञान के पर्यव-रूप एक प्रकार के चैतन्य को प्राप्त करता है। ऐसा कहा जाता है।

आकाशास्तिकाय--आकाश दो प्रकार का है। लोकाकाश और अलोकाकाश। जिस क्षेत्र में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य रहते है वह क्षेत्र लोकाकाश कहलाता है और जहाँ ये द्रव्य नहीं है, वह अलोक अलोकाकाश कहा जाता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि यह लोकाकाशरूप अधिकरण आधार मे सम्पूर्ण जीव द्रव्य रहते है। वैसे ही अजीव द्रव्य भी रहते है। इससे कोई अपेक्षा ऐसा कह सकते है कि लोकाकाश मे जीव, जीव के देश, जीव के प्रदेश, वैसे ही अजीव· अजीव के देश, अजीव के प्रदेश है। जो जीव हैं, वे एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अतिन्द्रिय है।

अजीव दो प्रकार के है। रूपी और अरूपी। रूपी के चार प्रकार है। स्कन्ध, स्कन्ध देश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु पुद्गल। जो अरूपी है, उसके पांच भेद है। धर्मास्तिकाय का देश, धर्मास्तिकाय का प्रदेश, अधर्मास्तिकाय का देश, अधर्मास्तिकाय का प्रदेश तथा अद्धासमय।

अलोकाकाश यह जीव या जीव का प्रदेश नहीं कहा जाता है। वह एक अजीव द्रव्य देश है। अगुरुलघु है तथा अगुरुलघुरूप अनंत गुणों से संयुक्त है। और अनंत भाग से न्यून और सर्व आकाशरूप हैं।

लोकाकाश में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं है। यह एक अजीव द्रव्य देश है। अगुरुलघु है।। अगुरुलघुरूप अनंत गुणों से संयुक्त है और सब आकाश रूप है।

धर्मास्तिकायादि संबंधी कुछ विशेष–

धर्मास्तिकाय लोक रूप है। लोकमात्र है, लोक प्रमाण है। लोक से स्पर्शित और लोक से ही छुआ हुआ स्थित है। इसके अनुसार अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय संबंधी जानना चाहिए। अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से अधिक भाग से स्पर्शित है।

तिर्यग्लोक–धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग से स्पर्शित है।

ऊर्ध्वलोक–धर्मास्तिकाय के कुछ न्यून अर्ध भाग से स्पर्शित है।

रत्नप्रभापृथ्वी–धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग को स्पर्श करती है।

घनोदधि–धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग को स्पर्शित है।

इसप्रकार घनवात और तनुवात संबंध में भी जानना चाहिए।

रत्नप्रभा पृथ्वी का अवकाशान्तर धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को स्पर्शित है। किन्तु असंख्येय भाग को, संख्येय भागों को, असंख्येय भागों को और सम्पूर्ण को भी स्पर्श नहीं करता है।

इसप्रकार दूसरे अवकाशान्तरों को भी जानना। जंबूद्वीपादिक द्वीप और लवण समुद्रादिक समुद्र, सौधर्मकल्प

प्राग्भारा पृथ्वी ये सब असंख्येय भाग को स्पर्श करते है ।

इसप्रकार अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश को स्पर्श करने के संबंध मे भी जानना ।

सक्षेप में पृथ्वी, उदधि, घनवात तनुवात, कल्प, ग्रैवेयक, अनुत्तर और सिद्धि ! इन सबके अंतर धर्मास्तिकाय के असंख्य भाग को स्पर्श करता है और बाकी अधर्मास्तिकाय के असंख्य भाग स्पर्श करता है । ❋ ३७

❋ ३७ अब इसके शतक मे यह अन्तिम दसवा उद्देशा अजीव काय का है । जिसके धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पाच भेद है और छठा द्रव्य जीवास्तिकाय है ।

अजीव यानी पाच द्रव्य जीव रूप मे नही है । ज्ञान-विज्ञान बिना या चैतन्य उपयोग से रहित अजीव होता है । केवल अस्तित्वादि धर्मो की अपेक्षा से जीव द्रव्य मे और धर्मादि द्रव्यो मे सादृश्य होने से 'नञ' का पर्युदास यानी सदृशग्राही अर्थ लेना है । जीव नामकर्म के उदय से प्राणो को धारण करता है, वे प्राण जिसमे नही है वे अजीव हैं । किन्तु यह अर्थ सुसगत इसलिए नही है कि नामकर्म के भेदो मे जीव नामकर्म है ही नही ।

"काय" शब्द से प्रदेश और अवयवो की बहुलता और कालद्रव्य मे प्रदेश का निषेध सूचित होता है । इन चार द्रव्यो मे "अजीव काय" शब्द का व्यवहार कर्मधारय समास के अनुसार करना है । क्योकि ये चार द्रव्य अजीव भी है और काय भी है । अजीवाश्च ते कायाश्चेति–अजीवकाया । इस समास मे दोनो शब्दो की वृत्ति परस्पर एक दूसरे को छोडकर भी रहती है । " जैसे नीलोत्पल " मे स्थित नील शब्द को छोडकर उत्पल शब्द " रक्तोत्पल " मे रहता है और उत्पल को छोड़कर नीलशब्द, नीलवस्त्र के साथ भी प्रयुक्त होता है ।

ये छः द्रव्य अवस्थित है। क्योंकि इनकी सख्या मे हानि वृद्धि न
तथा किसी से भी उत्पादित नही। किन्तु अनादि कालीन है।

अत उनका परिणमन भी परस्पर नही होता है। इसलिए अ
है। जैसे "जहाँ आकाशास्तिकाय का प्रदेश है, वहाँ धर्मास्तिकाय, अ
स्तिकाय जीवास्तिकाय के भी प्रदेश अवस्थित रहे हुए है। फिर भी
सबका प्रदेश एक दूसरे मे परिणत नही होता है। वैसे ही
दूसरे को अपने मे परिणत नही करते है। पुद्गलास्तिकाय
छोडकर बाकी सब द्रव्य अरूपी है। रूप का अर्थ मूर्त होता
रूप, रस, गध, स्पर्श इन चार गुणो को तथा गुणो से युक्त द्रव्य को
कहते है। इससे हम जान सकते है कि बाकी ये सब द्रव्य रूप, रस,
और स्पर्श बिना के है। इसलिए अरूपी है। जीवास्तिकाय भी अरूपी
चारो गुणो का साहचर्य होने से अनत, असख्यात, सख्यात प्रदेशा
पुद्गल स्कध और परमाणु मे भी चारो गुणो की विद्यमानता अबाध
वेशक कितने मे उनका स्पष्टीकरण होता है। कितने ही अनुमान से
जाते है। जैसे कि — " वायु, रूपवान्, स्पर्शवत्वात्, घटादिवत् "

" रूपिण, पुद्गला " मे " रूप अस्ति एषा एषु वा रूपिण "
व्युत्पत्ति से एक मे सबध की और दूसरे मे अधिकरण की अपेक्षा है। प
अपेक्षा मे रूप और रूपी मे कथचित् भेद है। जब दूसरे पक्ष मे कथचित् अ
की कल्पना है। जिनेश्वर भगवान का शासन एकान्तवाद मे नही है। प
अनेकान्त रूप मे है। इसलिए रूप (रूप, रस, रग, गध, स्पर्श) जिन
अथवा जिसमे है। ये दोनो अर्थ सगत है। अपेक्षा बुद्धि के मर्म को स
सकते हो तो हमको भी स्पष्ट रीति से समझने मे देरी नही लगती
क्योकि रूप (गुण) और रूपी (गुणी) का तादात्म सबध होने से कि
क्षण मे भी ये अलग नही है। कोई भी द्रव्य ऐसा नही है, कि जो गुण र
का हो अर्थात् गुण, द्रव्य (गुणी) को किसी समय नही छोडता। जब
पीले रग का होता है तब मीठा होता है और सुगधित होता है।

भी नही है। सब आकाशास्तिकाय सबको अवकाश देता है। ये तीन द्रव्य जैसे अरूप है, वैसे क्रिया बिना के है। जब जीव और पुद्गल क्रियावान् है।

क्रिया अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर एक आकार से दूसरे आकार को प्राप्त करना उसे क्रिया कहते है। जब धर्म, अधर्म और आकाश का तो किसीभी समय मे क्षेत्रान्तर या आकारान्तर नही होता है, तथापि अस्ति भवति–गत्युपग्रह–स्थित्युपग्रह और अवकाशदानोपग्रह आदि क्रिया का व्यवहार तीनो द्रव्यो मे होता है, इसलिए परिणाम लक्षण क्रिया इन तीनो मे समझना। जीव तथा पुद्गल मे परिस्पन्द लक्षण क्रिया समझना। यहाँ जीव तथा पुद्गलो को क्रियावान् कहे है। वे परिस्पन्द लक्षण क्रिया के कारण ही और यही क्रिया असली क्रिया है। धर्म-अधर्म आकाश और जीव के प्रदेश अनन्य है। प्रदेश यानी सर्व सूक्ष्म पदार्थ जिसका दूसरा विभाग न हो सके और परमाणु का अवगाहन जितने स्थान मे होता है उसे प्रदेश कहते है।

परमाणु को आदि बिना का, मध्य बिना का, और अप्रदेशी कहा है। जब परमाणुओसे बना हुआ स्कध अवयववाला ही होता है, उसका छेदन-भेदन होने पर जो निरवयवी अश रहता है वह परमाणु है।

प्रदेश का छेदन-भेदन जैन शासन को मान्य नही है। धर्म-अधर्म और आकाश के प्रदेशो का सकोच और विस्तार नही है। जब जीव का प्रदेश सकोच और विस्तारवाला होता है, इसलिए ही असख्य प्रदेशी जीव चीटी के शरीर मे और हाथी के शरीर मे अबाध रह सकता है। कीडी के शरीर को छोडकर यह जीव हाथी के शरीर से लेकर उत्तर वैक्रियधारी देव के शरीर मे प्रवेश करता है, तब अपने प्रदेशो का विस्तार करता है। लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोके प्रदेश अनन्त है। अकेले लोकाकाश के प्रदेश असख्य है। सब द्रव्य लोकाकाश मे रहे हुए है। रहने के दो प्रकार है, सादि और अनादि। जीव और पुद्गल सक्रिय होने से उनका क्षेत्रान्तर और आकाशान्तर होता रहता है। इसलिए वे जिस क्षेत्र और जिस आकाश को

धर्मास्तिकाय जीव को गति करने मे सहायक बनता है और अधर्मास्तिकाय खडे रहने मे सहायक बनता है। ये दोनो उदासीन कारण समझने चाहिए। प्रेरक कारण नही। यदि प्रेरक कारण मानने मे आगे तो संसार मे गड़बड़ खड़ी होगी। इस प्रकार चलनेवाले जीव को धर्मास्तिकाय चलायेंगे और खडे रहनेवाले जीव को अधर्मास्तिकाय चलने नही देंगे। परन्तु अनादि काल के संसार मे ऐसा कभी भी नही बना, नही बनता है और अनंत संसार मे नही बनेगा। जिनेश्वर देव का शासन और की मर्यादा को व्यवस्थित रूप मे प्रदर्शित करनेवाला है। गधे के सींग के जैसी असत्कल्पना अथवा आकाश मे फूल खिले जैसी मिथ्या भ्रान्ति जैन शासन मे नही हैं।

जीव और पुद्गल के सहायक रूप मे ये दोनो द्रव्य लोकाकाश मे रहते है। अर्थात् लोकाकाश के अन्तिम प्रदेश तक ही है। इसलिए अलोकाकाश मे जीव और पुद्गल को धर्मास्तिकाय की सहायता नही होने के कारण नही जा सकते। निर्वाण दशा को प्राप्त हुआ जीव सिद्धशिलापर विराजमान होता है।

पुद्गल द्रव्य से बना हुआ बगला जैसे सात है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ विराम पाते है वह लोकाकाश भी सात है। याने अंतवाला है। इसलिए ही एक लोकाकाश है। जब दूसरा अलोकाकाश इसलिए कहा जाता है कि वहाँ धर्म और अधर्म का प्रदेश नही। धर्म और अधर्म की सहायता बिना एक भी जीव और पुद्गल वहाँ जा सके वैसा नही। तत्त्वो के विभागी करण मे जैन शासन की यह स्पष्ट मर्यादा है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का जगतपर जो उपकार है। उनको जान लेने के बाद पुद्गास्तिकाय का उपकार क्या है? उन को जान लेना चाहिए। यद्यपि पुद्गल अजीव द्रव्य है तथापि इसकी शक्ति कितनी जोरदार है। इसकी जानकारी रखना अत्यन्त रसप्रद है।

जैन शासन इसलिए अद्वितीय हैं कि उसकी पदार्थ व्यवस्था और

आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे कर्म अनंतानंत भरे है, अतः कोई भी आत्मा भी कर्मरहित नहीं है और इससे ही जितने कर्मों का ... चार गतियो मे परिभ्रमण करते है और सुख दुःख भुगतते है।

"आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने से उसका संसार, अनन्त आकाश के माफिक किसी काल मे भी संभव नहीं है। "सुख की विद्यमान अवस्था को कभी भी नहीं छोड़े, सुखी अवस्था मे से दुःखी अवस्था की उत्पत्ति नहीं होती है। फिर भी किस तरह उसे कूटस्थनित्य कहते है।"

उपरोक्त नियम के अनुसार तो संसार की कोई भी व्यवस्था किसी को भी नहीं दिखाई देती है। किसी को अनुभव भी नहीं होता है। इसलिए ही जैन शासन मान्य 'स्याद्वाद धर्म' अमर रूप से चमकता है। जिस कारण से अर्थात् द्रव्यमात्र अपने मूल स्वभाव को छोड़े बिना एक पर्याय रूप से उत्पन्न होता है और दूसरे पर्याय रूप से नाश होता है। इसप्रकार प्रत्यक्ष आँखो से दिखलाई देता हुआ संसार का सनातन हमको सबको यथार्थ दिखाई देता है और जो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वही सच्चा तत्त्वज्ञान है।

यह ससार अनतानत पुद्गलो से भरा हुआ है। उनमे भी अमुक पुद्गल ही कर्मवर्गणा के है। जिससे आठो कर्म बाधे जाते है। उनमें नाम कर्म भी है। इस कर्म के तथा उनके अवान्तर भेदो के कारण शरीर की रचना करनेवाला यह जीव खुद ही समर्थ शक्तिवान है। शुभ या अशुभ नामकर्म की उपार्जना की गई होवे उसी के अनुसार जन्म धारण करते हुए जीव को वे कर्म उदय मे आते हैं और उस उस प्रकार से शरीर की रचना होती है। मानव या तिर्यच अवतार को धारण करनेवाले जीव को कुक्षी गत वीर्य और रज की ही आवश्यकता पडती है। जिससे यह जीव जन्म धारण करता है। अपने शुभाशुभ कर्मो को भुगतने के लिए धारण कराते हुए शरीर की रचना मे पुद्गल ही उपकारक है। जिससे ससारवर्ती सब जीव शरीर धारण करते है।

शब्द सुनने में स्पष्ट लगता और मधुर होता है, अर्थात् अपने अंतर में लिया हुआ वचनादि सुनाई देता हुआ शब्द है।

गुण सभी विषय ही होते है। इसलिए शब्द पौद्गलिक है। इसप्रकार का भाषा—व्यवहार एकेन्द्रिय जीवों का नहीं होता है। क्योंकि उन्होंने पूर्वभव मे भाषा पर्याप्ति नामकर्म उपार्जन नहीं किया। जिससे वे अपनी मानसिक व्यथा दूसरे किसी भी जीव को कह नहीं सकते। संज्ञीसंज्ञा के पुद्गल केवल संज्ञी जीवों को ही होता है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और गर्भ बिना का पंचेन्द्रिय समूर्च्छिम जीवों का संज्ञासंज्ञा नहीं होने के कारण ऊपर के जीव द्रव्य मन बिना के होते हैं। जब गर्भज जीवों को ही मन होने से उनका मानसिक विचार स्पष्ट गम्य है। यहाँ आहार, निद्रा, भय और मैथुन संज्ञा नहीं लेनी है। क्योंकि ये चार संज्ञा तो निगोद वर्ती जीवों को भी होती है। इसलिए मानसिक विचार रखनेवालों की संज्ञा दो प्रकार की होती है।

दीर्घकालिकी संज्ञा यानी भूत और भविष्य का विचार कराती है, ऐसी संज्ञा को दीर्घकालिकी संज्ञा कहते है और दूसरी संज्ञा दृष्टीवादोदेशिकी संज्ञा जो विशिष्ट प्रकार के श्रुतज्ञान का क्षयोपशमयुक्त होती है। इस मे सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होने से हेय और उपदेय क्या है? उसकी जानकारी करने के लिए जीव समर्थ हो जाता है।

पर्याप्त नामकर्म के कारण जो जीव पर्याप्त अवस्था को प्राप्त होता है, उसको प्राण और अपान की रचना नामकर्म से होती है।

प्राण यानी उच्छ्वास रूप मे परिणत हुए द्रव्य के समूह द्वारा जो श्वास लेने रूप व्यापार करने मे आता है उसे उच्छ्वास कहते है। नाभिमे से उत्पन्न हुआ उच्छ्वास रुप वायु प्राण रूप से सबोधित होता है।

जब बाहर का वायु अदर ले जाया जाता है। उसे निश्वास रूप से वापस फेका जाता है, उसे अपान वायु कहते है।

"समाप्ति वचनम्"

नवयुग प्रवर्तक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य श्री १००८ श्री विजय धर्मसूरीश्वरजी महाराज साहब के शिष्य शासन दीपक व्याख्यानु चूडामणि, लघु एवं बृहद् ३० पुस्तकों के लेखक, सौम्याकृति, प्रसन्नवदन, तार्किक शिरोमणि स्व मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज साहबने स्व के स्वाध्याय के लिए जिस भगवती मूल के शतक का विवरण किया है, उसपर विशेष प्रकार के प्रश्न तथा उत्तर के मर्म को जान सके, उसके अनुसार मैंने यह पुस्तक अल्पमति से तैयार की है।

" शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्
सर्वे जीवा जैनत्वं प्राप्नुयुः "

॥ नववा, दसवा उद्देशा समाप्त ॥

※ ※ ※

करते हुए भी अक्षय है। द्रव्यार्थिकनय से जिसका किसी समय भी नाश नहीं होता है वही अक्षय कहा है।

हाथी की गर्जना जैसे गंभीर और मनोरंजक होती है वैसे इस सूत्र मे प्रत्येक शब्द गंभीर और आह्लादक है।

इस सूत्र मे शब्दों के लिंग और विभक्ति की व्यवस्था भी अत्यन्त सरल है। हाथी के लिए भी इसी प्रकार समझना चाहिए। हाथी के प्रत्येक अवयव भी सुंदर होते हैं।

जैसे हाथी सब लक्षणों से युक्त और देवों से अधिष्ठित होता है, वैसे भगवती सूत्र भी देव दानव नरिंद गणधिअस्स होने से प्रसिद्ध है। अथवा सुवाच्य आख्यात–धातुओं से सुशोभित है। अत्यन्त मांगलिक होनेसे सब लक्षणों से युक्त है। जगत का कल्याण करानेवाला होने से देवों द्वारा सुरक्षित है। जयकुंजर हाथीका उद्देशक–शिरोभाग सुवर्ण मंडित है। वैसे भगवती सूत्रके प्रत्येक उद्देशक भी सुवर्ण है। यानी 'अ' से लेकर 'ह' तक सब वर्ण योग्य स्थान पर स्थापित होने से बहुमूल्य रत्न के सदृश सुशोभित होता है। जैसे हाथी का चरित्र विविध प्रकारका होता है वैसे इस सूत्र मे कहींपर कथानक, तो कहींपर तत्वज्ञान, तो कहीं भौगोलिक वर्णन और कहीं शारीरिक विज्ञान के वर्णन से अंकित होने के कारण ही अद्‌भुत् और अवर्णनीय है।

जैसे हाथीका शरीर स्थूल (बडा) होता है, वैसे इस सूत्र मे अनेक शतक हैं। एक एक शतक मे अनेक उद्देशे है और

और अविरति रूपी भाव शत्रुओं का नाश करने के लिए अलग अलग हेतुओं से मानवों के मन में स्थित भावशत्रुओं को भगा कर दूर करने मे सफल हुए हैं।

इस प्रकार जयकुंजर हाथी की उपमा को संपूर्ण प्रकार से धारण करता हुआ यह भगवतीसूत्र सबके लिए वंदनीय, पूजनीय, पठनीय तथा मननीय है।

मनुष्यजीवन की सार्थकता

इस सूत्र मे विविध प्रकार से जीवादि नौ तत्त्वों की व्याख्या विशद प्रकार से की गई है। इनकी जानकारी ही उत्कृष्टतम सम्यग् ज्ञान है। उसके बिना संसारभर का ज्ञान और विज्ञान संसार के नाश को निमंत्रण देता है। आज के ससार की दयनीय दुर्दशा मिथ्या ज्ञान के आभारी है। अतः जीवन में सबसे पहले सम्यग् ज्ञानकी जरूरत है।

यथार्थ तत्वज्ञान को प्राप्त करने के लिए और प्राप्त ज्ञान को जीवन मे उतारने के लिए मनुष्य अवतार सिवाय दूसरा एक भी अवतार नहीं, क्योंकि जीवमात्र अपने अपने किये हुए (कृत) कर्मराज के फन्दे मे फसा हुआ है।

अत्यंत पाप कर्म करके नरक गति मे पडा हुआ नारक जीव अपने पाप के फलों को भुगतने से ही ऊँचा नहीं आता है। जब देवगति के देव अपने पुण्य कर्मों के फलो को भुगतने मे मस्त बने हुए है। तिर्यंच गति के तैर्यंच अविवेकी, पराधीन, भूख, प्यास,

करते हैं और देवाधिदेव, पतित पावन भगवान महावीर स्वामी समवसरण में आकर "नमो तित्थस्स" कहकर विराजमान होते हैं। इसप्रकार का देव निर्मित समवसरण, उसकी रचना, उसका वर्णन जैन सूत्रों को छोड़कर दूसरे स्थान पर कहीं भी देखने में नहीं आता है। संसार में चाहे जैसा बड़े से बड़ा चक्रवर्ती हो, वासुदेव हो, या बलदेव हो, त्यागी-तपस्वी-महातपस्वी हो, या करोड़ों का दान देनेवाले लक्ष्मीपुत्र हो, या उल्टे सिर पूरी जिन्दगी तक लटकनेवाला बड़ा योगी हो, तो भी किसी के लिए ऐसे समवसरण की रचना हुई हो, ऐसा कहीं पर भी देखने में नहीं आया, जब ये अपूर्व और अद्वितीय अतिशय तो तीर्थंकर परमात्माओं को ही होते हैं।

मोका नगरी मे वायुवेग से जब यह बात जानने में आई कि भगवान महावीर स्वामी गांवके बाहर नंदन नाम के चैत्य में विराजमान हैं। तब वहां के राजा और प्रजा को बहुत आनन्द हुआ और सब एक स्थान पर एकत्रित होकर यही एक बात करने लगे कि हमारे नगरवासियो का यह महान् पुण्योदय है कि पतित पावन भगवान महावीर स्वामी पधारे हैं। उन अरिहंत को वन्दना करना, सत्कार करना, नमन करना और उनकी पर्युपासना करना यही जीवन का एक महान् आनंद है। इसलिए सब तैयार हो जावो। सबने स्नान किया, बलिकर्म किया, मगल किया, तिलक किया और सभ्यवेष परिधान करके अपने अपने घर से बाहर आकर एक स्थानपर एकत्रित हुए। सबके हृदय श्रद्धा से परिपूर्ण थे, मन मे अरिहंत देव के दर्शन करने का उल्लास था, आँखों में

तामली तापस और प्राणामा दीक्षा

इसके पश्चात् श्री गौतमद्वारा ईशानेन्द्र की उत्पत्ति संबंधी किये गये प्रश्न का जवाब प्रभु विस्तार से है। जिसका सार निम्नानुसार है:-

ताम्रलिप्ति नगरी में तामली नाम का मौर्यपुत्र (मौर्य वंशी) गृहपति रहता था। वह महान् धनाढ्य था। उत्तरोत्तर प्रतिदिन ऋद्धि-समृद्धि में बढ़ता जाता था। बाद में वह वैरागी बन गया। उसने अपने सगे संबंधी और स्वजातिवाले भाईयों का अनेक

आसन से इन्द्र ने भगवान महावीर स्वामी के दर्शन किये और आसन से नीचे उतरकर सात आठ कदम उस दिशा की तरफ गये, जिस दिशा मे भगवान थे और उन्होने भगवान को वन्दना की। तत्पश्चात् अपने आभियोगिक देवो को सबोधनकर आज्ञा देते हुए कहते है कि "मै भगवान महावीर स्वामी को वन्दन करने के लिए जाता हूँ" तो आप भी मेरे साथ चलिए, और अपने परिवार को भी खबर भेजिए। तदनन्तर लाख योजन प्रमाण वाले विमान मे बैठकर तथा नदीश्वर दीप मे उस विमान को समेटकर इन्द्र महाराज अपने परिवार के साथ राजगृहनगर मे आये और भगवान को तीन प्रदक्षिणा देकर पर्युपासना की। धर्मदेशना सुनने के पश्चात् इन्द्रने अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक भगवान से कहा कि हे प्रभो, मै गौतम स्वामी आदि महर्षियो को नाट्यविधी (नाटक) दिखलाने की इच्छा रखता हूँ। इसप्रकार कहकर इन्द्र अपने दाहिने हाथ से १०८ देवकुमारो को तथा बायें हाथ से १०८ देवकन्याओ को प्रकट करके वाद्य, नाद के साथ बत्तीस प्रकार के विविध नाटक किये। नाटक समाप्त होनेपर भगवान को वन्दना तथा नमन करके अपने स्थानपर गये। गौतम स्वामीने भगवान से पूछा कि इन्द्र महाराज की इतनी सपूर्ण ऋद्धि कहा गई ? भगवानने जवाब दिया की उनकी ऋद्धि उनके ही शरीर मे प्रवेश कर गई है। शेप स्पप्टम्।

है, तब आदर करता हुआ जाता है। अनादर करता हुआ भी आ सकता है, शक्रेंद्र ईशानेंद्र को चारों ओर से अर्थात सब प्रकार से देखने में समर्थ है।

इसप्रकार उपरोक्तानुसार शक्रेंद्र ईशानेंद्र से साथ बातचीत करने में भी समर्थ है। इन दोनों के बीच में परस्पर किसी वक्त एक दूसरे से काम पड़ता है। जब शक्र को कोई काम होता है, तब वह ईशानेंद्र के पास आता है। किंतु जब ईशानेंद्र के काम होता है तब शक्रेंद्र के पास जाता है। उनके परस्पर संबोधन करने की रीति यह है। 'हे दक्षिणलोकार्ध के स्वामी देवेंद्र देवराज शक!" "हे उत्तर लोकार्ध के स्वामी देवेंद्र देवराज ईशान।" इन दोनों मे किसी किसी समय विवाद भी होता है। जब विवाद होता है तब वे सनत्कुमार नाम के देवेंद्र को याद करते है। याद करते ही वे सनत्कुमार उन दोनों देवेंद्र के पास उपस्थित हो जाते है। सनत्कुमारेंद्र जो कहते है, वे दोनों इंद्र उसको स्वीकार करते हैं।

यह सनत्कुमार इंद्र भवसिद्धिक है, सम्यग्दृष्टि है। मित ससारी है। सुलभ बोधि है, आराधक है और चरम है। वे सनत्कुमारेद्र अनेक श्रमण और श्रमणियाँ, श्रावक और श्राविकाओं के हितेच्छु हैं। सुखेच्छु और पथ्येच्छु है। उनपर अनुकंपा करते है उनका निःश्रेयस चाहते हैं। सनत्कुमारे की स्थिति सात सागरोपम की है। आयुष्य पूरा होने के बाद महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्ध बनेगे। ※ ४०

※ ४० वैमानिक देवताओ सबधी विशेप वर्णन इसप्रकार है –

[illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और
ओर से यह भी कहा कि जाओ, [illegible] महावीर स्वामी के पास जाकर
क्षमा मांग। यह [illegible] [illegible], फिर चौरासी हजार सामानिक
देवों के साथ वह महावीर स्वामी के पास आता है और निवेदन
करता है कि, हे भगवान, मैं इन्द्र को पकड़ने यहाँ तक आना
चाहता था किन्तु जब उसने अपना वज्र मुझ पर फेंका तब मैं
अपनी इच्छा से आपका आश्रय लिया और आपका आश्रय लेने से
मैं बच गया हूं इसलिये अब मैं आपसे क्षमा याचना करता हूं
आपका कल्याण हो। इसप्रकार क्षमायाचना करके वह ईशान कोण
की तरफ चला गया।

यह चमरेन्द्र सागरोपम का आयुष्य पूरा करके महाविदेह
क्षेत्र में सिद्ध होगा।

असुरकुमार देव सौधर्मकल्प तक ऊंचे जाते हैं। इसका
कारण यह है कि असुरकुमारों का यह संकल्प होता है कि शक्र के
पास उपस्थित हो उसकी देव ऋद्धि को देखें और जानें और वह भी
हमारी देव ऋद्धि को देखे और जानें। इस कारण से वे असुरकुमार
देव सौधर्म कल्प तक ऊंचे जाते हैं।

॥ दूसरा उद्देशा समाप्त ॥

※ ※ ※

शरीर में अथवा शरीर द्वारा होती हुई जो क्रिया है, वह कायिकी क्रिया है। अधिकरण यानी शस्त्र रूप चक्र, तलवार आदि उसमें या उसके द्वारा हुई जो क्रिया वह आधिकरणिकी क्रिया है। प्रद्वेष यानी मत्सर, उसके निमित्त को लेकर हुई अथवा मत्सर द्वारा हुई क्रिया वह प्राद्वेषिकी क्रिया है।

किसी को सताना या दुःख देना, उसे परिताप कहते है। उसके कारणसे या उसके द्वारा हुई क्रिया अथवा परिताप रूप जो क्रिया, उसे पारितापनिकी और प्राणों को शरीर से अलग करना, उसे प्राणातिपात। प्राणातिपात से संबंधित जो क्रिया अथवा प्राणातिरूप जो क्रिया, उसे प्राणातिपातिकी क्रिया कहते है।

प्राण दस प्रकार के कहे हैं। ५ इन्द्रिय, ३ बल, (शरीर-मन-वचनरूप) १ श्वासोच्छ्वास और १ आयुष्य।

१ अनुपरत-त्यागवत्ति के बिना प्राणी द्वारा हुई शरीर से जो क्रिया उसे अनुपरतकायिकी क्रिया कहते है।

दुष्प्रयुक्त-दुष्ट रीतिसे प्रयोग मे लायें शरीर द्वारा हुई जो क्रिया उसे दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया कहतें है।

२ संयोजना-विविध वस्तुओं के अंश से मिश्रित एक वस्तु तैयार करना, उदाहरण स्वरू हल, जहर (विष) मिश्रित वस्तु पक्षी या हरिणों को पकडनें का यत्र, इसप्रकार संयोजन रूप जो अधिकरण है, वह संयोजनाधिकरण।

निर्वर्तना-तलवार, बरछी आदि शस्त्रों को बनानें की यह निर्वतनरूप जो अधिकरण क्रिया उसे निर्वर्तनाधिकरण कहते है।

मे अनेकानेक जीवो का मारनेवाला, जीव का वध करनेवाला पशुओ को सतानेवाला, झूठी साक्षी, अभ्याख्यान, कूटलेख, कूडमाप, अनीति अनाचार, सेवन, परस्त्रीगमन, परस्त्रीहरण, वेश्यागमन, शिकारकर्म, तथा १५ कर्मादान के व्यापार इत्यादि पापाचरण कर चुका है। किए हुए इसप्रकार के पाप कर्मो के कारण वर्तमान मे मनुष्य भव मे भी यह जीव समाधि, शांति, नम्रता, सरलता, पवित्रता, सत्कर्मिता, धार्मिकता, पापरहितता, आर्त तथा रौद्रध्यान की विमुखता, सदाचरणता आदि आत्मिक गुणो को प्राप्त नही कर सका। यदि प्राप्त भी हो गये तो उन गुणो को स्थिर नही रख सका। यदि स्थिर रख सका तो आराधित नही कर सका इसलिये जैसा था वैसा ही रहा। यह कहावत चरितार्थ होती है कि "राम और रतन दो भक्त हुए लेकिन वे अत मे तो कोली के कोली रहे, अर्थात् आगे नही बढ सके। क्योंकि मूल सस्कार अच्छे नही थे।"

तत्त्वज्ञान की जितनी कमजोरी होती है उसके अनुसार ही आत्मा के पुरुषार्थ वल की भी कमजोरी जाननी चाहिए। इसलिए ही आत्मा के मित्र के सदृश सामायिक, पौषध, देवपूजा, भक्तिभाव की धुन वगैरह को समझते मे देर नही लगती है। किन्तु अनादिकाल से आत्मा के कट्टर शत्रु के समान आश्रव तत्त्व को पहचानने मे और छोड़ने मे हमने सबसे विशेष शिथिलता धारण कर रखी है। फलस्वरुप वीतराग के दर्शन तथा पूजन किये लेकिन वीतरागता से हजारो कोस दूर रहे है। मामायिकादि की विधि विधान जाननेपर भी समताभाव को पालन करने मे असफल रहे हैं। उपवास-आयंविलादि करनेपर भी आहार सज्ञा के गुलाम बनकर पारणा करते तथा पारणे मे किन किन चीजो का उपयोग करेंगे इसप्रकार अपनी वृत्ति इत्यादि का चिन्तन नही छोड सके है। इत्यादिक अगणित उदाहरणो से हम अपनी प्रवृत्ति का माप निकाल सकते है।

एसा क्यो हुआ ? सबसे पहले विचारणीय प्रश्न यही है। चालू प्रश्न क्रियासवधी है और भगवान का जवाव यही है।

[illegible] है। यह प्राणातिपातिकी क्रिया
[illegible]
और [illegible] क्रिया [illegible] जाती है।

कर्म बधन के कारणरूप आत्मा के परिणामो मे द्वेष, मत्सर, ईर्ष्या, अशुभ भावना लाना, यह प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है। दूसरे को सताना उसे पारितापनिकी क्रिया कहते है और दूसरे के प्राणो को हरना, उसे प्राणातिपातिकी क्रिया कहते है। जो जीव केवली अवस्था को प्राप्त नही होते है। वे सयोगी होने के कारण सक्रिय होते है। किन्तु निष्क्रिय नही होते है। इस प्रकार के प्राणो को हरने के मानसिक भाव भी प्राणातिपातिकी क्रिया का सूचक है। ऋजुसूत्र नय के अनुसार भी हिंसा का अध्यवसाय उत्पन्न होते ही हिंसक अवस्था प्राप्त होने देर नही लगती है। मारने का अध्यवसाय जीव के विषय मे ही सभव है। जैसे कि सर्पाकार मे स्थित रज्जु के विषय मे हम को जब सर्पबुद्धि की भ्रान्ति होती है। तब हाथ मे छड़ी (स्टीक) लेकर सर्प को मारने के इरादे से ही छड़ी का उपयोग करते है। यद्यपि वह सर्प नही होता है। वैसे ही कोई मरता नही है। लेकिन हम तो सर्प समझकर ही क्रिया करते है। आटे का बना हुआ मुर्गा या बकरे को मारते हुए भी अध्यवसाय तो सच्चे मुर्गे या बकरे को ही मारने जैसा होता है।

आश्रव मार्ग को समझने के लिए इस विषय को दूसरे प्रकार से भी समझ लेना चाहिए। यद्यपि की जाति हुई क्रियाओ से कर्म बधन सामान्य ही होता है। तो भी क्रिया मे यदि तीव्र भाव, ज्ञान भाव और अधिकरण विशेष की सहायता मिल जाय तो कर्म बधन मे तीव्रतमता आये बिना नही रहती है। अधिकरण की विशेषता को लेकर कर्म बधन मे वैचित्र्य आता है। उस अधिकरण के दो भेद है। जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण और और दोनो का द्रव्याधिकरण और भावाधिकरण रूप से दो भेद है। कर्म बधन मे जीव और अजीव का साहचर्य अनिवार्य है। अकेला जीव या अकेला अजीव कुछ भी नही कर सकता है। जीवात्मा जो कर्म बाधने के लिए

सरंभ समारंभ और आरंभ इन तीन आश्रवों का मन, वचन और काया से करना, कराना और अनुमोदना तथा इन को क्रोध, मान, माया और लोभ से करना इस प्रकार ३×३×३×४ = १०८ होते हैं।

सरंभ—इसमें किसी भी जीव को मारने का इरादा करना, झूठ बोलने के लिए झूठी साक्षी देने के लिए, [illegible] प्रकाशित करने के लिए अमानत को हजम कर जाने (गबन) के लिए, चोरी करने के लिए, विश्वासघात करने के लिए, कूट तोल, कूट माप रखने के लिए, परस्त्री को भोगने के लिए, तथा परपुरुष को भोगने के लिए, ऐसे ही परिग्रह बढ़ाने के लिए, मन, वचन तथा काया का संकल्प करना, यह सरंभ आश्रव है।

समारंभ—उपर्युक्त कार्यों को सफल करने के लिए उसी प्रकार की तैय्यारी करना, द्रव्य तथा भाव से इस तैय्यारी को समारंभ कहते हैं।

आरंभ—उस प्रकार की तैय्यारी करने के पश्चात् शस्त्र से जीवों को मार ही डालना, झूठ बोलना, चोरी करना, खोटा (दोषपूर्ण) व्यापार करना, परस्त्री गमन करना, आदि पापयुक्त व्यापार करना, यह आरंभ नाम का आश्रव है।

१०८ प्रकार के आश्रव का कोष्टक

१ मन से सरभ क्रोधपूर्वक करना			२ मनसे समारभ क्रोधपूर्वक करना		
...	...	... करवाना	...	. .	... करवाना
...	..	... अनुमोदना	..	...	.. अनुमोदना
वचन से सरभ क्रोधपूर्वक करना			वचन से...		... करना
	...	... करवाना	...	..	... करवाना
.	. .	.. अनुमोदना	. .	..	... अनुमोदना
शरीर से	..	करना	काया से .		करना
..	...	... करवाना	.		करवाना
	..	. . अनुमोदना	...	...	अनुमोदना

९ मन से आरम्भ [illegible] करना		१० मन से [illegible] करना	
	करवाना	.. ..	करवाना
	अनुमोदना	... .	अनुमोदना
वचन से	करना	वचन से	करना
	करवाना	.. ..	करवाना
	अनुमोदना	.. ..	अनुमोदना
काया से	करना	काया से	करना
	करवाना	.. ..	करवाना
	अनुमोदना	.. . .	अनुमोदना

११ मन से समारम्भ लोभपूर्वक करना		१२ मन से आरम्भ लोभपूर्वक करना	
.. . ...	करवाना		करवाना
. ...	अनुमोदना	.	अनुमोदना
वचन से	करना	वचन से .	करना
,	करवाना		करवाना
	अनुमोदना	.	अनुमोदना
काया से	करना	काया से	. करना
	करवाना		करवाना
	अनुमोदना		अनुमोदना

इस प्रकार उपर्युक्त कोष्टक के अनुसार भावाधिकरण के १०८ भेद स्पष्ट जान सकते है।

हमारे जीवन मे उपदेश पद्धति की करुणता ही रही है। सबने स्वर्ग और मोक्ष का मार्गमात्र बताया है। किन्तु पाप त्याग की प्रमुखता तो जिनेश्वर देवो ने ही फरमाई है। जीवन मे पुण्यकर्म की प्राप्ति शायद दो वर्ष के पश्चात् होगी, इसमे कुछ हानी पडनेवाली नही है, परतु पापकर्म की त्याग-भावना और उन पापो को त्यागने का आरम्भ तो आज से ही शुरु हो जाना चाहिए।

[illegible]

अब निक्षेपाधिकरण के चार भेद–

१ अप्रत्यवेक्षित, २ दुष्प्रमार्जित, ३ सहसाकार और ४ अनाभोगित। अर्थात् पूर्ण रूप से निरीक्षण किये बिना जल्दबाजी से किसी भी वस्तु को बिना उपयोग स्वीकार करना तथा त्याग करना। इसे निक्षेपाधिकरण किया कहते है। [illegible] जीवराशि से परिपूर्ण इस संसार में उसी प्रकार रहना चाहिए। तथा चारों ओर से स्थान का निरीक्षण कर वहाँ इसप्रकार से बैठना चाहिए तथा कोई भी वस्तु लेना अथवा रखना चाहिए जिससे किसी भी जीव की निरर्थक हत्या न हो। हमारे प्रमाद से मरता हुआ जीव प्राय करके श्राप देता हुआ मरता है। उस पाप या श्रापका फल हमें भवभवांतर में भोगने पडते है। बहुधा ऐसा होता है कि जिस मनुष्य के साथ हमारा किसी प्रकार का लेन देन न हो, जाति पांति से या समाजसंबंधी से किसी प्रकार का प्रसग न हो, फिर भी वह जीव जब हमपर घातक हमला करता है, हमारे गृहस्थाश्रम को कलंकित करता है, हमारी बहन बेटी के सतीत्व को भ्रष्ट करने का कार्य करता है, तब हम परेशान होकर उपरोक्त दृश्य देखते है। ऐसे प्रसगपर हमारे मुखसे सहसा ये शब्द निकल पडते है " यह आदमी मेरा किस भव का वैरी है ? "

इसलिए जीवदया–अभयदान जैसा एक भी धर्म नही है और जीवहत्या जैसा एक भी पाप नही। ऐसा समझकर हमको अपनी प्रत्येक क्रिया मे उपयोग रखना चाहिए और निरर्थक जीवहत्या मे से अपने मन वचन और शरीर को बचाना चाहिय। यही एक मानवता है। मानव कृत्य हैं और धर्म प्राप्त करने की पहली सीढी है। इसी बात का रहस्य यह निक्षेपाधिकरण आश्रव समझाता है।

धारण करती है और [illegible] आदि [illegible] का आनन्द [illegible] हुई [illegible] [illegible] है। ([illegible]) और वह [illegible] जीवन [illegible] है। जबकि [illegible] [illegible] है। [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] मे वह अपना [illegible] गृहस्थाश्रम [illegible] है।

एक तो वह [illegible] है जो [illegible] पर [illegible] आमोद प्रमोद करती हुई अपना जीवन [illegible] है। जबकि [illegible] पुरुष को सांप डसता है और वह इस संसार से विदा हो जाता है।

महिला धर्म की चरम सीमा का पालन करनेवाली सीता दमयन्ती तथा द्रौपदी आदि को वनवास भोगना पड़ा है और उनको चिरकाल पर्यंत विलाप करते हुई अपना समय बिताना पड़ा है।

जब मौनव्रतधारी मनरंजन [illegible], बाल ब्रह्मचारी भी टी बी दमा तथा अन्य भयकर बीमारियो को भोगता हुआ आयुष्य पूर्ण करता है।

ऐसे हजारो उदाहरण हमे अपने सामने आज प्रत्यक्ष देखते हैं। हमारे अज्ञात मन मे भी आज यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नही रहता है कि इस प्रकार कैसे और क्यो हो जाता है ? ऐसी स्थिति मे जैन शास्त्र ही हमको जानकारी देते है, वह इसप्रकार है — अनादिकाल से ससार मे जीव के साथ मिथ्याज्ञान, प्रमाद कषाय और अविरति से उपार्जित किये तथा प्रत्येक भव मे मोह तथा माया के सेवन से बढाये हुए कर्म इस तरह से घुल मिलकर एकत्रित हो गये है। जैसे दूध के साथ शक्कर घुलमिलकर एकरूप बन जाती है।

इस कारण से ससार की रगभूमिपर रखडपट्टी करनेवाली यह जीवात्मा अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगती है।

उदाहरण द्वारा यह विषय इसप्रकार समझाया जाता है कि जैसे आम के पेड पर लगा हुआ तथा प्रत्यक्ष दिखलाई देता हुआ नीले रग का कठोर

[illegible] लेना चाहिए। (लगा लेना चाहिए)

तीन लोक व त्रिकालवर्ती पदार्थों को प्रत्यक्ष देखनेवाले केवल ज्ञानी भगवान ही प्रत्येक पदार्थ की यथार्थता को जानने मे समर्थ होते है। अतः उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

कर्मों का अबाधा काल

आज के अभी के (वर्तमान) समय मे अत्यन्त मोहराग मे रत हुआ जीव जिस समय मोहाधीन बनकर ससार के भोगविलास मे तथा क्रोध, मान, माया और लोभ मे अध बनकर जिस आशय से, जिस तीव्रता मे जिन जीवो के साथ कर्म बधन करता है तब उसी समय बाधे हुए कर्म का "अबाधा" काल भी निश्चित् हो जाता है।

अबाधा काल अर्थात् बाधे हुए कर्म अमुक समय के पश्चात ही उदय मे आते है न कि पहले। इसलिए उदय मे न आवे तक तब के काल को 'अबाधा काल' कहते हैं। इसलिए इस प्रश्न के उत्तर मे भी भगवान फर-माते है कि वेदना मात्र कर्मजन्य ही होती है। अर्थात् पहले कर्म किये

कर्म के नाम	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट अबाधा	जघन्य अबाधा
ज्ञानावरणीय	३० कोडा कोडी सा	१ अन्तर्मुहूर्त	३००० हजार वर्ष	१ अन्तर्मुहूर्त
दर्शनावरणीय	३० ,, ,,	,,	,,	,,
वेदनीय	३० ,, ,,	१२ मुहूर्त	,,	,,
मोहनीय	७० ,, ,,	१ अन्तर्मुहूर्त	७००० हजार वर्ष अधिक पूर्व कोटि वर्ष का तीसरा भाग	,,
आयुष्य	३३ सागरोपम	,,	,,	,,
नाम	२० कोडा कोडी सा	८ मुहूर्त	२००० हजार वर्ष	,,
गोत्र	२० ,, ,,	,,	,,	,,
अंतराय	३० ,, ,,	१ अन्तर्मुहूर्त	३००० हजार वर्ष	,,

[आर्हत दर्शन दीपिका पेज १०५१]

अवाधा काल अर्थात् कर्मो का अनुदय काल जानना। इस काल के दरम्यान वह कर्म जीव को स्वोदय से हानी नही करते है।

पल्योपम और सागरोपम क्या है? उस की जानकारी नीचे के कोष्टक से प्राप्त करनी चाहिए।

१ अविभाज्य सूक्ष्म काल	१ समय
२ नव समय	१ अन्तर्मुहुर्त
असख्यात समय	१ आवलिका
२५६ आवलिका	१ क्षुल्लक भव
१७॥ क्षुल्लक भव	१ श्वासोच्छ्वास [प्राण]
७ प्राण	१ स्तोक
७ स्तोक	१ लव

[illegible] कहलाता है । [illegible]
[illegible] हैं ।

अबाधा-काल के दरम्यान उत्कृष्ट प्रकार से ७० कोडाकोडी सागरोपम का मोहनीय कर्म बाधा हो तो ७००० हजार वर्ष तक यह कर्म किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता । यह बाधा पूर्ण होने पर ही मोहनीय कर्म उदय में आयेगा । मतलब यह है कि सात हजार वर्ष बीतने के बाद ७० कोडाकोडी सागरोपम के काल तक भी अगर वे चाहे तब ही यह कर्म उदय में आयेगा ।

जैसे समुद्र अपार और अनंत है उसी प्रकार संसार भी अगाध और अनंत है । आज जिस जीवात्मा के साथ कषायों की भयंकर परवशता के कारण अत्यन्त-वैरानुबंध हो गया है, जो जीव हमारे हाथ से मरा है, जिसके साथ राग द्वेष की तीव्र गाठ बध गई है, अथवा मृषावाद अदत्तादान मैथुन और परिग्रह बढाने के लिए जिन जीवो के साथ हमारे कर्म की गाठ बध गई है, उन जीवो के साथ हमारा जिस भव मे सगम होगा तब उसका फल भोगना पडेगा ।

चरमतीर्थंकर महावीर स्वामी का प्रसग लेकर इस विषय का विवेचन किया जाता है । महान और अन्तिम सत्तावीश भव की अपक्षा से अठारह भव मे श्रेयासनाथ भगवान के शासन मे भगवान महावीर स्वामी का जीव त्रिपृष्ठ वासुदेव के अवतार को प्राप्त हुआ था । वहाँ ८४ लाख वर्ष का आयुष्य था । उनमे ८३ लाख और ४९ हजार वर्ष तक उन्होने वासुदेव पद को भोगा था । उस समय अतिरुष्ट होकर शय्यापालक के कान मे गरमा-गरम जस्ता [सीसा] उडेल दिया था । जिससे उस समय निकाचित बाधा हुआ असाता वेदनीय कर्म नव भव के पश्चात् अर्थात् कर्म बाधने के पश्चात् ८० सागरोपम के ऊपर लगभग २ करोड वर्ष बीतने के बाद महावीर स्वामी के भव मे ग्वालेने उनके कान मे कीले ठोकी है—उस रूप मे यह

होता है । [illegible] करते है और [illegible] है [illegible]
[illegible] है । [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible]
क्रियाओं का मन, वचन तथा काया से करते है । इसलिए उनको [illegible]
अर्थात् मुक्ति प्राप्त नहीं होती है । क्योंकि [illegible] है तब तक [illegible]
समारंभ और आरंभ [illegible] आश्रवों के [illegible] बन जाते है । इन
कारण से पृथ्वी कायादि जीवों को –

'दुक्खावणयाए' मरणरूप अथवा अन्य विभिन्न दुःख देते है।
'सोआवणयाए' उन जीवों को शोक उत्पन्न करते हैं ।
'जूरावणयाए' विशेष रूप से [illegible] उत्पन्न करते है ।
जिससे शरीर जीर्ण बन जाता है ।
'तिप्पावणयाए' उनको रुलाते है ।
'परितावणयाए' उनको ग्लानि प्राप्त कराते है ।
'उद्दावणयाए' त्रास देते है ।

साराश यह है कि उपयोग बिना का मुनि सर्व प्राणो को, सर्व भूतों को, सर्व जीवो को और सर्व सत्वों को मारनेवाला होता है । इसप्रकार मानसिक जीवन में से जब संरभ, समारंभ और आरंभ का त्याग नहीं करता है । तब वह साधक की काया भी 'सातागारव' तरफ प्रस्थान करती है । अर्थात् शरीर के पोषण करनेवाले उन मुनि की सभी क्रियाओं में आलस, प्रमाद और वेदरकारी [लापरवाही] होती है । तब अपने उपयोग में लाने के लिए तय किया हुआ पानी, लघुशका, पात्र धोने के बाद का पानी कफ आदि इस प्रकार फेकेंगे, जिससे पृथ्वी कायादि जीवो का हनन होता है । तथा लघुशका [पेशाब] आदि दूसरे स्निग्ध और क्षारवाले साबु के पानी को नीचे फेंकनेवाले मुनि भावदया रहित बन जाता है । तथा उपयोग रहित होने से नीचे फेंके हुए उन क्षार पदार्थो से पृथ्वी कायिको का हनन होगा । वहाँ रहे हुए चीटी मकोडे आदि त्रस जीवो को भी हत्या होगी और पानी फेंकते हुए मक्खी, मच्छर आदि जीवो का घात होगा ।

मरुस्थल में पानी मिलने पर आनन्द आता है। वैसे ही आग? [illegible] पर गये हुए मनुष्य को भी आनन्द मिलता है।

मानसिक चिकित्सा

इसी प्रकार का आनन्द ही आनन्द मिलता रहे। इस संसार की माया पुनः मुझे नहीं सताये और विकल्प हैरान नहीं करे। इसलिए व्रत, नीति थोड़ी तपश्चर्या और काम क्रोध को रोकने के लिये मोह एवं तथा मिथ्यात्व से दूर रहने के लिये वीतराग परमात्मा का दर्शन-पूजन ध्यान करता है और इस प्रकार पांचवा गुणस्थानक प्राप्त करके यहाँ बहुत सा काल व्यतीत करता है। किसी समय में संसार की माया का नाटक दिखाई देता है। किन्तु दूसरे ही क्षण में वैराग्य की लहर उठते ही भगवान के भजन में मस्त बन जाता है। एक दिन अपने पुत्र पुत्रियों के साथ बैठकर स्वादु पदार्थ को स्वादपूर्वक खाता है। तो दूसरे दिन खाना पीना छोड़कर भगवान की माला जपता है। किसी समय संसार के रागरंग को भोगने की भावना जागृत होनेपर उसमें आत्मविभोर हो जाता है। जबकि दूसरे समय में ही विचारधारा बदल जाती है। "यह मैंने क्या किया?" हृदय सागर में इस प्रकार की तरंग उठते ही पौषध लेकर गुरु के चरणों में दूसरी रात पूरी करता है। इसप्रकार किसी दिन संसार की माया तो दूसरे दिन वैराग्य की माया के झूलों में झूलता हुआ वह भाग्यशाली समय पकने (*Matured*) पर वैराग्य तथा ज्ञान के अभ्यास द्वारा संचित की हुई आत्मशक्ति से संसार का त्याग करता है और मुनिधर्म, मौनधर्म, समिति गुप्ति धर्म पालने के लिये हिंसा का संपूर्ण त्याग करके संयम धर्म स्वीकारता है। तब जैन शासन इस स्थान को छठा गुण स्थान कहते हैं।

अर्थात् मोक्ष में जाने के लिये यह भाग्यशाली छठी सीढ़ी (पगथिया) पर चढ़ गया है। वहाँ गुरु के चरणों में रहता है। स्वाध्यायी शक्ति बढ़ाता है। तपश्चर्या धर्म को उत्कृष्ट धर्म समझकर संग्रामभूमि में कर्मराज के सैनिकों के साथ युद्ध क्रीडा करता है। किन्तु हम सब जानते हैं कि किसी समय

हरि क्षेत्र—८४२१.१ कला है।
निषध पर्वत—१६८४२.२ कला है।
महाविदेह क्षेत्र—३३६८४.४ कला है।
नील पर्वत—१६८४२.२ कला है।
रम्यक क्षेत्र—८४२१.१ कला है।
रुक्मि पर्वत—४२१०.१० कला है।
हिरण्य क्षेत्र—२१०५.५ कला है।
शिखरी पर्वत—१०५२.१२ कला है।
ऐरावत क्षेत्र—५२६.६ कला है।

यहां एक योजन का १९ वाँ भाग कला है। उनमें से उनके भाग समझने हैं जैसे कि भरत क्षेत्र ५२६ योजन है और ६/१९ कला है, यानी १९ भागमें से ६ भाग लेना, इस प्रकार सबको समझना है।

इस भरत क्षेत्र में पूर्व से पश्चिम तक लम्बा वैताढ्य पर्वत है जिसकी दाढाएं लवण समुद्र तक जाती है। यह पर्वत दक्षिणार्ध भरत और उत्तरार्ध भरत दो नामसे इस क्षेत्र का विभाग कर देता है। उस दक्षिणार्ध भरत मे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रति वासुदेव, बलदेव और नारद जन्म लेते है और धर्म की प्रवृत्ति होती है।

इसप्रकार सक्षेप मे जान लेने के पश्चात् लवण समुद्र के ज्वारभाटा सबधी विचार व्यक्त करते हैं क्योकि प्रश्न का विषय ही यह समुद्र है।

इस समुद्र मे चार बडे पाताल कलश है। अर्थात् कलशाकार के पदार्थ है। एक एक पाताल कलश लाख योजन का है। दूसरे भी छोटे छोटे अनेक पाताल कलश है और दोनो प्रकार के पाताल कलशो मे नीचे के भाग मे वायु है। बीच मे वायु और जल है और ऊपर के भाग मे पानी ही है। जिसमे अनेक प्रकार के वायुओ का स्पदन तथा कपन होता है। और वायु के कारण से छोटे और बडे ७८२४ पाताल कलशो का पानी

[illegible] भी जान लेना। ऊपर के चार भाग [illegible] लागू होते हैं। ✱ ४८

✱ ४३ [illegible] अनगार [illegible] ' [illegible] अनगार, ' [illegible] सूक्ष्म, अर्थात् [illegible] अनगार नहीं [illegible]। " [illegible] भावितात्मा। " [illegible] है और ज्ञान की विभिन्नता [illegible] किसी समय वे विमान में बैठे हुए देव को देखते हैं। किन्तु दूसरे समय में [illegible] विमान को ही देखते हैं। तो किसी समय दोनों को देखते है और दूसरे समय में किसी को भी नहीं देखते है। इसीप्रकार किसी समय वे पेड़ के मूल को देखते हैं तो किसी समय शाखाओं को देखते हैं। तो किसी समय पेड़ की डाल को, पुष्प को, पत्र को तथा फल को देखते हैं। क्योंकि अवधिज्ञान में तारतम्य से पदार्थों के ज्ञान में भी तारतम्य आता है।

अहिंसा, संयम और तप का स्पष्टीकरण

जो भावितात्मा अहिंसा संयम और तप के आराधक हैं, उनको ही लब्धियां प्राप्त हो सकती हैं।

'तपश्चर्या की आराधना और उनका शुभ फल तथा अहिंसा धर्म की आराधना यानी वैर और विरोध की निवृत्ति की सफलता किसके आभारी है ? उसे जरा देख लेना चाहिए।

अहिंसा यानी किसी भी जीव को क्रोध, मान माया और लोभ में आकर मन वचन तथा काया से मारना नहीं, मरवाना नहीं, और मारनेवाले का अनुमोदन करना नहीं, यही अहिंसा है।

[illegible]

[illegible] आन्तरिक जीवन मे मन दण्ड, वचनदण्ड, और काय दण्ड का [illegible] है । उस कारण से तीन प्रकार के दण्डों के प्रभाव से उसका मानसिक, वाचिक और कायिक जीवन भी विषम बना रहेगा । इसलिए ही मन, वचन और काया के दण्ड को निग्रह करने के लिए यानी मनगुप्ति से मनदण्ड को काबू मे लेना, वचन गुप्ति और भाषा समिति से वचनदण्ड को कब्जे में लेना और कायगुप्ति तथा ईर्या समिति द्वारा कायदण्ड का निग्रह करना, यह संयम है।

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेप समिति तथा उत्सर्ग समिति इसप्रकार पाच समिति और तीन गुप्ति मे प्रवृत्ति करने वाले को एकेंद्रियादि प्राणियो की पीडा का परिहार रूप सयम है। इसी बात को दस वैकालिक सूत्र के दसवें अध्ययन की १५ वी गाथा से विचारना चाहिए ।

हत्थसंजए, पायसंजए, वायसंजए; संजयइन्द्रिए

अर्थात् हाथ, पैर, वाणी और इन्द्रियो को कट्रोल करना वह सयम है। ऐसा सयमी ही अहिसक और तपस्वी होता है ।

हाथ का सयम अर्थात् हाथ को सयमित रखना ।

अब वायुकाय एक बडी पताका के आकार जैसा रूप बनाती है और वैसा करके अनेक योजन तक गति करने में यह समर्थ होती है। यह वायुकाय आत्मऋद्धि से गति करता है किन्तु पर की ऋद्धि तथा [illegible] से गमन नहीं करता है। जैसे आत्मऋद्धि से गमन करता है, वैसे आत्मकर्म से और आत्मप्रयोग से भी गति करता है। यह वायुकाय ऊँची पताका या गिरी हुई पताका के सरीखा दोनों प्रकार के रूप बनाता है, यह पताका एक ही दिशा में होती है, ऐसा रूप बनाकर गति करता है। यह वायुकाय पताका नहीं है लेकिन उसका रूप ऐसा बनता है।

इसीप्रकार बलाहक यानी मेघ के संबंध में भी है—मेघ एक बडा स्त्री रूप करके अनेक योजन तक जा सकता है। इसप्रकार

तथा स्त्री निन्द) तथा गुदास्थान को असयम के रास्ते मे जाते हुए को ज्ञान वैराग्य से रोक लेना, उसे इन्द्रियसयम कहते है।

अनत भवो मे भ्रमण करने मे इन्द्रिय सयम सर्वथा दुस्साध्य है। क्योकि प्रत्येक भव मे इस आत्मा ने सगार बनाया है, सजाया है और भोगा है और पाच इन्द्रियो के २३ विषयो मे पूर्ण रूप मे आसक्त हुआ है। इसलिए पहले भवो की कुवासना तथा कुचेष्टारूपी असयम के सस्कार इस भव मे भी उदय आए विना नही रहते हैं और उदय मे आये हुए अथवा उदीरणा करके उदय मे लाई हुई इन्द्रियो के असयम को ज्ञान रूपी लगाम से वश मे लाया जा सकता है।

शास्त्रो मे शरीर को रथ की उपमा दी है। आत्मा रूपी सेठ के हाथ मे जो ज्ञान रूपी लगाम, गुरुकुलवासरूपी कवच (बख्तर) और वीतरागदेव की आज्ञा रूपी तलवार होगी ? तो इन्द्रियो के घोडो को वश मे करते [illegible]ही लगती है।

भी गमन करता है । इसलिए कहने में आता है कि परभव में गमन करता है ।

अब लेश्या के संबंध में कहा गया है कि जो जीव नैरयिकों में, ज्योतिषियों व वैमानिकों में उत्पन्न होने योग्य है । वे कैसी लेश्यावालों में पैदा होते हैं ? इसके जवाब में कहा है कि जीव जैसी लेश्यावाले द्रव्य को ग्रहण करके मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी लेश्यावाले में वह उत्पन्न होता है । ※ ४७

※ ४७ स्थावर नाम कर्म के कारण वायुकाय स्थावर जीव ही है । फिर भी निश्चय की अपेक्षा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति करते है । वायु का आकार ध्वजा के समान है । विकुर्वणा करता हुआ वायु, स्त्री, पुरुष, हाथी आदि आकार से तथा यानादि आकार से विकुर्वणा नहीं करता है । किन्तु वह पताका के जैसे आकार की विकुर्वणा करता है और अनेक योजन तक गति करता है ।

स्वत शुद्ध वायु भी जिन पुद्गलो को स्पर्श करके हम को स्पर्श करता है और उन पुद्गलो मे रहे हुए शुभ या अशुभ गध को हम घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करते है । तब वह वायु भी सुगन्धी या दुर्गन्धी कहा जाता है। और जब पुद्गलो का साहचर्य समाप्त होता है तब वायु भी अपने मूल स्वभाव मे आ जाता है ।

गुलाब के फूल के मध्य मे रहा हुआ पीला रजकण पौद्गलिक होता है और उसमे सुगन्ध रहती है। वायु के साथ अकेला गध गुण मिश्रित नही होता है क्योकि गुण द्रव्याश्रित होने से गुणी को छोडकर अकेला नही रह सकता । इसलिए गुलाब के फूल मे रही हुई सुगध गुणवाले पौद्गलिक रजकणो को वायु साथ लेता है और सब को सुगन्धित करता है । उसी प्रकार गदे स्थान मे से दुर्गन्ध पुद्गल वायु के साथ मिल जाते है तब सबको दुर्ग-

गति की तरफ प्रस्थान करता हुआ आत्मा नहीं बांधता है। क्योंकि मिथ्यात्वकी उपस्थितिमें ही उपर में कर्म बंधते है।

मिथ्यात्व यानी आत्मा का दुःसाध्य रोग, महागाढ अंधकार, परमशत्रु विष और कातिल जहर है क्योंकि रोग, अन्धकार, शत्रु तो एक ही भव मे दुःख देते है किन्तु मिथ्यात्व के कारण जीवात्मा हजारों भव तक दुःखी बनता है। जैसे जात्यन्ध अपने पास रही हुई अच्छी या बुरी वस्तु को देखने मे असमर्थ होता है, वैसे ही मिथ्यात्ववाली आत्मा भी सत्य-असत्य, खाद्य-अखाद्य, पेय-अपेय, कृत्य-अकृत्य आदि की जानकारी प्राप्त नही कर सकता। अत त्याज्य वस्तु का त्याग और स्वीकार्य वस्तु को स्वीकार करने का विवेक उनमे नही है, इसलिए नीचे के १६ स्थानको को प्राप्त करता है।

१ एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाने के लिए मिथ्यात्वी आत्मा सबसे पहिले नरक मे जाने के लिए आयुष्कर्म बाधता है। बाद मे नरकगति नाम कर्म और वह स्थान प्राप्त हो, उसके लिए नरकानुपूर्वी नाम कर्म बाधता है। जहाँ सुख है ही नही।

२ एकेन्द्रियत्व-जहाँ बहुत अस्पष्ट वेदना है।

३ विकलेन्द्रित्व मे इन्द्रियो की पूर्णता का अभाव और उन उन प्राणो का अभाव उनके लिए अत्यन्त दुखदायी होता है।

४ स्थावर योनि मे उन जीवो पर चाहे जितनी वर्षा, ठडी या गर्मी पडे अथवा उनको कोई काटे, छेदे फिरभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही जा सकते है।

५ सूक्ष्म नाम कर्म के कारण उनका सूक्ष्म-अदृश्य शरीर होता है।

६ अपर्याप्त अवस्था-यानी खुदकी पर्याप्तियाँ पूरी किये बिना ही मरना पडता है।

७ साधारण वनस्पति काय प्राप्त होनेसे एक शरीर मे असख्य या अनन्तजीव भयकर वेदना भोगते रहे है।

नष्टहो जायगी इसका सरलार्थ यह हुआ कि सम्यक्त्व प्राप्त जीव चाहे मनुष्य हो या स्त्री, गृहस्थ हो या साधु, उसका आत्मबल इतना मजबूत होता है कि अपने शुद्ध अध्यवसाय द्वारा आगे हुए भव मे नरकगति, विकलेन्द्रिय तथा एकेन्द्रियादि जाति तथा नपुंसक वेद जैसे अत्यन्त पाप वर्धक तथा घृणित स्थान उसे नहीं मिल सकते हैं।

यह है सम्यक्त्व का चमत्कार, जिस कारण से अनंतानुबंधी कषाय दब जाने के कारण ही आत्मा को उन्नत मार्ग पर जाने का रास्ता, उद्घाटित होता है। जब जब कषाय अपना स्वरूप प्रकट करते जाते हैं तब तब यह समकिती आत्मा उन कषायो को नष्ट कर देता है, भगा देता है अथवा उनको पुन दवा देता है जिससे कषाय वहाँपर अपना प्रभाव नहीं फैला सकता। ये सब बातें ज्ञान शक्ति को प्राप्त हुई आत्मा में स्वयं जागृत होने के कारण अपने आप होती रहती है।

यह आत्मा शायद दुर्भव्य हो अथवा पाच पच्चीस भव तक संसार में परिभ्रमण करने वाला हो और अभीतक मिथ्यात्व गुणठाणे न पहुँचा हो उस समय भी अर्थात् एक वार सम्यक्त्व को स्पर्श करके शक्तिशाली हुई यह आत्मा यद्यपि सम्यक्त्व से च्युत होगई है, फिर भी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, बीच के ४ सस्थान के (न्यग्रोध, सादि, वामन और कुब्ज) इस प्रकार चार सघयण (ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका) नीच गोत्र, उद्योतन नामकर्म, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद आदि जो निन्दनीय और आर्त ध्यान कराने वाले स्थान हैं। उनको भी नहीं बाधता है। क्योंकि ये स्थान अनतानुवधी कषायो के कारण बाधे जाते है। सम्यक्त्व की विद्यमानता मे इन कषायो का जोर नही चलता है। इसमे के दूसरे स्थान तो कर्मग्रथ से जानलेने चाहिए। केवल स्त्रीवेद के विषय पर थोडासा विवेचन यहाँ कर लेते हैं।

जैसे पित्त के प्रकोप के कारण विविध जाति के मीठे पदार्थ खाने की इच्छा होती है। वैसेही महापापी भावनाओ के कारण निदानपूर्वक बांधा

होते है। वायु के सयोग से गति करते है जिस से भिन्न भिन्न परिणमन होते है। जिन्हें हम सब प्रत्यक्ष रूपसे देख सकते है।

विशेष आकार को प्राप्त हुए बादल जब उनका आकार शुभ दिखाई देता है, तब देखने वाले मनुष्य के लिए शुभदायी होते है और जब अशुभाकार दिखाई देते है तो उसका फल मनुष्य के लिए अशुभ होता है। अर्थात् राक्षस, पिशाच, रावण, बाघ, ऊट जैसे भयानक और डरावने आकार के बादल जब जिन पुरुषो को दिखाई देते है, उन दर्शको को हानि पहुँचाने वाले वे दिन होते है।

एकही पौद्गलिक आकार सबोको भिन्न भिन्न रूप मे दिखाई देता है। इसमे हमारी आखो का ही चमत्कार होता है। एक ही दृश्य देखते हुए एक की आख पूरे तौर से खुली होती है जब कि दूसरे की अधूरी खुली होती है। उस समय कोई तिरछा देखते हैं और कोई सीधा। इसलिए आकारो के दृश्यो मे भी फेरफार होता है। शुभाकार को प्राप्त हुआ बादल एक को देव का आकार दिखाई देता है जबकि दूसरे को राक्षस का आकार दिखाई देता है।

इसका नाम है पुद्गलो का चमत्कार

जब अधेरे मे स्थित पदार्थ या मूर्ति को देखना होता है तब उसको देखने के लिए उसके सन्मुख दीपक रखा जाता है, उस समय उसका आकार भिन्न रूप मे दिखाई देता है। जब दीपक टेढा रखा जाता है तब उसके आकार मे फेरफार दिखाई देता है। जब दीपक न हो तब आकार भिन्न स्वरुप मे, जब सिरपर फूल की माला हो तब भिन्न आकार, अग रचना की हो तब जुदा आकार, इस प्रकार पुद्गलो के सहवास से ही भिन्न भिन्न आकार दिखाई देता है।

इसमे दैवी चमत्कारो की कल्पना करना वह भी एक अज्ञानता है। यह देखना है कि साधक मात्रको पुद्गलो के सहवास से आपनी आत्मा मे प्रतिक्षण

मनुष्य के सहवास से इसके पतित अध्यवसायों का भी पता पड़ता है। जब 'प्रसन्नचन्द्र मुनि की सज्झाय' सुनते हैं तथा वीतरागी मुनियों का सहवास करते हुए, हमारा भी उत्तरोत्तर की शुभ की लेश्या प्राप्त होती है। इस-प्रकार एक क्षण में युद्ध, एक क्षण में दान देने की भावना और दूसरे ही क्षण धर्म का त्याग करने की भावना (लेश्या) बन जाती है। इसप्रकार भिन्न भिन्न समय में जो लेश्याएं बदलती जाती हैं, उनमें पूर्व भव के कारण भी मान्य किये बिना छुटकारा नहीं मिलता है। इसकारण लेश्याओं की उत्पत्ति में पूर्वाचार्यों का भी मतभेद है। फिर भी अनेक प्रामाणिक आचार्यों का यह कथन भी बराबर है कि लेश्याएं कर्म स्वरूप नहीं, क्योंकि कर्मों की संख्या आठ की है और लेश्याएं किसी भी कर्म के या उसके अवान्तर विभाग में समाविष्ट नही है। तब लेश्या क्या होगी? उसके जवाब में यही कह सकते है कि कम संस्कार के या सर्वथा संस्कारो को नही प्राप्त किये हुए मन महाराज के ये सब खेल तमाशे है।

अनादि काल से कुसंस्कारो को प्राप्त करने के कारण मन मर्कट हमेशा बहुत चचल रहता है। इसीलिए हमारे अध्यवसाय स्थिर नही रहते है। बल्कि प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। मोहकर्म को उपशान्त करने की प्रबलशक्ति का व्यवस्थित रूप से विकास नही होता है, तब उसके परिणाम अस्थिर ही रहते है। इसलिए ससार के उन उन रागद्वेषजन्य दृश्यो को देखते ही अस्थिर मन को क्षायोपशमिक भाव मे से निकल कर औदयिक भाव मे प्रवेश करते देर नही लगती है। इसप्रकार मानसिक व्यापार को लेकर प्रतिक्षण बदलते हुए आत्मा के परिणामो को लेश्या शब्द से सबोधित करते है। इन लेश्याओ के कारण ही आत्मा कर्मो के साथ सलग्न होजाती है और नये नये कर्म बाधती ही जाती है।

महाभयकर वैरी को देखते ही हमारी लेश्या बिगड जाती है। फिर हमारे मन मे कषाय का उद्भव होता है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान होते ही फिरसे भयकर कर्मो को बाधने की परिस्थिति बनती है।

[illegible] इस लेश्या का मालिक समझना चाहिये।

पीत लेश्या-विद्या प्राप्त करने में रुचि रखने वाला, धर्म में दृढ़, कार्य और अकार्य का विवेचक तथा लाभ और अलाभ में सदा खुश रहने वाला, इस लेश्या के मालिक है।

पद्मलेश्या-क्षमा को धारण करनेवाला, प्रतिदिन त्याग में प्रीति करनेवाला परमात्मा का पूजक, इन्द्रियों का दमन करनेवाला, आत्मिक जीवन में पवित्र, हमेशा प्रसन्न चित्त, पद्मलेश्या के मालिक हैं।

शुक्ललेश्या-राग-द्वेष रहित, शोक-[illegible] तथा निंदा रहित, परमात्मपद का इच्छुक शुक्ल लेश्यावाले होते हैं।

आगम में लेश्याओं का स्वभाव

अब उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार भी लेश्याओ के मालिक कैसे होते है। उसे जान लेना चाहिए।

कृष्ण लेश्या-पांचो आश्रव मे प्रवृति करने वाला, तीन गुप्ति रहित, छ काय जीवो का हिंसक, आरम्भ की तीव्रता वाला, क्षुद्र, साहसिक, निर्दय, दुष्ट, इन्द्रियो का गुलाम, दुराचारी पुरुष, इस लेश्या के मालिक है।

नील लेश्या-ईर्ष्यालु, कदाग्रही, असहिष्णु, तपश्चर्या रहित, अज्ञानी, मायावी, बेशरम, विषयी, द्वेषी, रसलोलुप, आरामचाहक, आरंभीक, क्षुद्र, दु.साहसी इस लेश्या के परिणामवाले ऐसे होते है।

कापोत लेश्या-वक्र, विषम चरित्र वाला, कपटी, अपने दोषो को छिपाने वाला, मिथ्यादृष्टि, अनार्य, असस्कारी, मर्मभेदक दुष्टभाषाभाषी, और ज्वलनशील मनुष्य इस लेश्या से ग्रसित होता है।

तेजोलेश्या-नम्र, अचपल, निष्कपट, अकुतुहली, विनयी, इन्द्रियो का

बहुत सी बातों के लिए सहन करना, क्रोध के सामने प्रेम, वैर के सामने प्रेम और भूल के सामने भूला करना, यह संतान का धर्म है। जब दूसरे को क्रोध आवे तब नमना सीखना वैर के सामने मौन धारण करना, दूसरों की भूल के बदले मे कभी भी भूल नहीं करना, बस यही जैन धर्म का सार है। यही मोक्ष मार्ग है। मोक्ष धर्म की आराधना भी यही है। धार्मिक जीवन बीताने के लिए इससे दूसरा कोई सरल मार्ग नहीं है। सर्व अपराधों को क्षमा करना यही जीवित प्राणी के जीवन का अमर फल है। यह समझकर उपरोक्तानुसार जीवन बीताना चाहिए जिससे आगामी भव बिगड़ने पायगा नहीं।

हमको यह समझलेना चाहिए कि बुरा बनकर दूसरों का चाहे जितना द्रोह करे उससे ससार का कुछ भी बिगाड़ होने वाला नही है।

उत्तम कुल मे जन्म लेने पर भी रावण, दुर्योधन और शूर्पणखा तामसिक (वैर रूपी विष वाले) और राजसिक (क्रोध, मान, माया और लोभ वाले) बने। परस्त्रियो का हरण करने मे और दूसरो को मौत के घाट उतारने मे अपना सपूर्ण जीवन खपा दिया, फिर भी ससार का कुछ बिगाड नही सके। यहाँ तक कि ससार का तो कुछ भो नही बिगड़ा प्रत्युत दूसरो के द्वारा अपना वध करवाकर स्वय नरक के प्रति प्रस्थान कर गये। अन्य लोगो को सुधारने के लिए ही यह मनुष्य अवतार हमे नही मिला है किन्तु खुद की आत्मा को परमात्मा की तरफ प्रस्थान कराने के लिए यह मनुष्य अवतार मिला है।

अत परमात्म पद का चिंतवन करके आत्मा का विकास और उसकी प्रतिदिन प्रगति होवें यही जीवन हितावह है।

मेट्रिक उत्तीर्ण करना, वकील, डाक्टर या प्रिन्सीपल बनना बहुत ही सरल है किन्तु जीवन बनाने की कला को हस्तगत करना बहुत ही कठिन है।

के बाद एक बात याद आती है कि अबतक जो पाप किये है, शरीर उन पापो का मुख्य कारण है । इसलिए इस शरीर को दड देने के लिए, खडे खडे अथवा बैठे बैठे एकाग्रचित होकर काया की माया घटाने के लिए कायोत्सर्ग करेगा । प्रत्याख्यान और अन्त मे आहार, भय, परिग्रह और मैथुन की सज्ञा मे कटौती करने के लिए अमुक नियम लेकर अमुक समय तक आहार, पानी, दोषपूर्ण (खोटा) व्यापार, परिग्रह और मैथुन न करने के लिये प्रत्याख्यान (पच्चखाण) करेगा और भावपूर्वक त्याग करके अपने पापो को धोने के लिए तैयार हुए देश विरति श्रावक मुनिमहाराजो का साहचर्य स्वीकार करेगे और श्रमणो पासक बनेगे ।

जब जिन्दगी के अन्तिम श्वास तक सामायिक व्रत लेने वाला मुनि दिन प्रति दिन इन आवश्यको मे मस्त बनकर आगे आगे बढेगा । ऐसी स्थिति मे अमायी अर्थात् अप्रमत्त मुनि को वैक्रिय शरीर बनाने के लिए कोई भी प्रयोजन नही है ।

अब यहाँ प्रतिक्रमण के सबध मे थोडा विचार करते है जो आत्म कल्याण के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन है ।

प्रतिक्रमण मे बोलते हुए सूत्र पर अक्षरश. ध्यान देना चाहिए । यथाशक्ति अर्थ के प्रति खयाल रखना चाहिए । सघ के साथ ही प्रतिक्रमण करना । जिससे सघ मे सप बना रहे और अनुकूल समय आनेपर शत्रुओ के साथ भी क्षमा लेने देने का लाभ प्राप्त होगा ।

सघ मे साधर्मिक वात्सल्य का अपूर्व लाभ मिलता है ।

धार्मिक वातावरण उत्पन्न होता है

गुणवत पुरुषो का सहवास मिलता है ।

भावितात्मा अणगार का विकुर्वण

इस उद्देशक मे भावितात्मा अनगार भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपों का अभियोग और विकुर्वणा करता है या नहीं ? तथा इस-प्रकार मायी साधु या आमायी साधु करते हैं या नहीं ? इस सवंध मे प्रश्नोत्तर है, सार यह है :-

भावितात्मा अनगार वाहर के पुद्‌गलों को लेकर वडी स्त्री के रूप को वना सकते है और ऐसे रूप से वैक्रिय समुद्‌घात करके पूरे जंबूद्‌वीप को आकीर्ण—व्यतिकीर्ण कर सकते हैं। इतना कर सकते है परंतु वैसा किसी समय किया नहीं, करते नहीं, और करेगे भी नहीं। परंतु शक्ति जरूर होती है।

इसीप्रकार भावितात्मा अनगार तलवार और ढाल से सज्जित पुरुष की तरह एक हाथ में पताका लिए हुए पुरुष की तरह, एक तरफ जनेऊ पहनकर चलनेवाले पुरुष की तरह, एक तरफ आसन जमाकर वैठे पुरुष की तरह, एक तरफ पर्यंकासन करके वैठे हुए मनुष्य की तरह, इसप्रकार भिन्न भिन्न जाति के स्वरूप वनाकर आकाश मे उड सकते हैं। ऐसी इसकी शक्ति है, परंतु इसप्रकार का विकुर्वण हुआ नहीं है, न होता है और न होगा।

इसीप्रकार भावितात्मा अनगार वाहर के पुद्‌गल सहित घोडा, हाथी, सिंह, वाघ, शेर, दीपडा (तेंदुआ) रींछ, छोटा शेर

वैक्रिय शक्ति का उपयोग करते हैं और बाद मे उस कर्म की आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर लेते है ।

(२) वैषयिक सुख के लिए, स्वादिष्ट भोजन के लिए, तथा मत्र साधना तथा भूति कर्म का आयोजन करते है ।

(३) जिसके आदि मे 'ॐ' और अत मे स्वाहा होता है, उसे मत्र प्रयोग कहते है ।

(४) साधना अथवा औषधि प्रयोग को प्रयोग कहा जाता है ।

(५) मनुष्यो की, पशुओ की और घर की रक्षा के लिए भस्म मृतिका तथा सुतर द्वारा किये गये प्रयोग को और भभूति डालना, मत्र पढ़कर धूल तथा राख डालना, (डोरा) धागा करना, ये सब भूति कर्म कहे जाते है।

इसप्रकार जो साधु मत्र, प्रयोग और भूतिकर्म को अपने अगत लाभ के लिए स्वादिष्ट आहार के लिए, अच्छे वस्त्रो की प्राप्ति तथा विषयवासना के सुख के लिए करते है । वह साधु काल करके 'आभियोग' देव बनता है, जहाँ बडे देवो की आज्ञा मे रहने का काम होता है ।

अर्थात् देवलोक मे भी दास स्वरूप जीवन पूरा करते हैं ।

॥ पांचवा उद्देशा समाप्त ॥

अनक नौवा — उद्देशक–६

गांव तथा नगर का निर्माण

क्योंकि उसके मन में ऐसा होता है कि यह वाराणसी नगरी है और यह राजगृह नगर है। तथा इन दोनों के बीच में आया हुआ एक जनपद वर्ग है किन्तु वह मेरी वीर्य लब्धि, वैक्रीय लब्धि या विभंग लब्धि नहीं है। ऐसा उस साधु को विपरित दर्शन होता है।

इसप्रकार विपरीत–उल्टा ज्ञान मिथ्यादृष्टि, मायी, अभावितात्मा अनगार के लिए कहा है। परंतु कोई अमायी, सम्यग्दृष्टि, भावितात्मा अनगार के लिए उपरोक्त अनुसार जो वनाता है वह तथा भाव से ही जानता है और देखता है। अन्यथाभाव मे नहीं जानता और नहीं देखता।

जव कोई भावितात्मा अनगार वाहर के पुद्गले का मिश्रण विना वडे गांव के रूप को, नगर के रूप को या संनिवेश के रूप को वनाने के लिए समर्थ नहीं है। किन्तु वाहर के पुद्गलों को मिश्रण करके विकुर्वण के लिए समर्थ है। इसीप्रकार इसकी शक्ति है। किन्तु उसप्रकार हुआ नहीं, होता नहीं और होगा भी नहीं।

चमर के आत्मरक्षक देव–

चमर के आत्मरक्षक देव २५६००० है। ※ ४९

※ ४९ दक्षिणार्थ पति चमर इन्द्र के अगरक्षक देव कितने है ?

इसप्रकार के प्रश्न मे भगवान फरमाते है–कि सामान्यत अंगरक्षक देव अपने मालिक इन्द्र महाराज की रक्षा के लिए तैयार रहते है। वख्तर धारण किये हुए, धनुप वाणो से सज्जित, गले मे आभूपण पहने हुए, भिन्न भिन्न जाति के शास्त्रो को पास मे रखे हुअे ढाल और तलवार से युक्त, इन्द्र

शक्र के लोकपाल—

इस प्रकरण मे इन्द्रों के लोकपाल, उनके विमान आदि संबधी हकीकत है :-

ये प्रश्नोत्तर राजगृह में हुए है। सार यह है :-

शक्र के ४ लोकपाल है--सोम, यम, वरुण और वैश्रमण। इनके ४ विमान है, संध्याप्रभ, वरशिष्ट स्वयंजवल और वल्गु। सोम का संध्या प्रभ नाम का विमान जंबूद्वीप के मंदर पर्वत के दक्षिण में, रत्नप्रभा पृथ्वी के रमणीय भूमिभाग से ऊँचा, सौधर्म कल्प से असंख्य योजन जाने के वाद 'संध्या प्रभ' नाम का विमान आता है।

यम का वरशिष्ट नाम का महा विमान सौधर्म कल्प से असंख्य हजार योजन छोडने के वाद आता है।

वरुण का स्ययजवल नाम का महाविमान सौधर्म कल्प से असंख्य हजार योजन छोडने के वाद आता है।

वैश्रमण का वल्गु नामक महाविमान सौधर्मावतंसक विमान के उत्तर में है।

इस प्रकरण में लोकपालों का आयुष्य और उनकी दूसरी समृद्धि का भी वर्णन आता है ※ ५०।

※ ५०। ३२ लाख विमानो का अधिपति शक्रेन्द्रके ४ दिशाओ के रक्षक सोम, यम, वरुण और कुबेर नाम के ४ लोकपाल हैं। उनमे से

यथा [illegible] मह, मुकुन्द मह, पुलिन्द मह, [illegible] मह, [illegible] मह, समहोत्सव मह ।

इसप्रकार [illegible] यहाँ भी पुष्प आदि से पूजा करते है ।

यम का वर्णन

यम नामक दूसरे लोकपाल के लिए इसप्रकार जानना । सौधर्मावतंसक महाविमान के दक्षिण भाग मे सौधर्म कल्प है । वहाँ से असंख्य हजार योजन छोडने के बाद इन्द्र महाराज की आज्ञा मे रहनेवाले इस लोकपाल का विमान आता है । जिस विमान की लम्बाई, चौडाई १२॥ लाख योजन की है । इस लोकपाल की आज्ञा मे यमकायिक, यमदेवकायिक, प्रेमकायिक (व्यन्तर विशेष) प्रेतदेवकायिक, असुरकुमार असुरकुमारियाँ, कदर्प नरकपाल आदि दूसरे भी देव है । जो नीचे लिखे अनुसार विघ्नो, उपद्रवो, कलह, एक दूसरे के सामने विरोधात्मक वार्तालाप, दूसरे के प्रति वैर, महायुद्ध, सग्राम, महापुरुषो का मरण, रुधिरपान, गाव—देश मडल नगर के रोग, सिरदर्द, आँख मे पीडा होना, कानकी वेदना, नख का रोग, दाँत की पीडा होना, झगडा करना, यक्ष भूत की पीडा, एकातर (वारी का) बुखार आदि उद्वेग, खासी, दम, अजीर्ण, पाडुरोग, हरस, भगदर, छाती (वक्षस्थल) सिर, योनि और काख आदि का शूल, मरकी रोग, तीड, मच्छर, जू, माकड आदि के उपद्रव आदि दूसरे भी रोग हैं । यम देव की आज्ञा मे रहनेवाले १५ प्रकार के परमाधामी नारक जीवो को इसप्रकार (दर्द) पीडा देते है ।

१५ परमाधामी देव

(१) अव—नारक जीवो को ऊपर से नीचे फेंकता है ।

(२) अवरीप—असुर कैंची से नारको के टुकडे करके वर्तन (भाड) मे पकाने योग्य वनाता है ।

(३) श्याम—नारको को शामन-पीडा देते है और छीलते है ।

देवाधिप, नागकुमार, नागकुमारिका, उदधिकुमार, उदधिकुमारिका, स्तनितकुमार और स्तनितकुमारिकाए आदि दूसरे भी आज्ञा मे रहते है । जैसे—

अतिवृष्टि—वेगपूर्वक वर्षा करना ।

मन्दवृष्टि—मन्द मन्द वर्षा आना ।

सुवृष्टि—ऐसी वर्षा होना जिससे अनाज आदि सब पक जाए ।

दुर्वृष्टि—ऐसी वर्षा जिससे अनाज आदि नही पके ।

उदकोद्भेद—पहाड की तलेटी मे पानी की उत्पत्ति ।

उदकोत्पील—तालाब आदि मे भरा हुआ पानी का समूह ।

अपवाह—पानी का थोडा थोडा रेला (बहना)

प्रवाह—पानी का वेगपूर्वक बहना ।

उपरोक्त वर्षा हानि तथा लाभ करनेवाले होते हैं । इस लोकपाल के कर्कोटक, कर्दमक, अजन, शखपालक, पुड्र, पलाश, मोद, जय, दधिमुख, अयपूल और कातरिक जैसे देव अपत्य समान है ।

इसमे कर्कोटक यानी लवण समुद्र के ईशान कोने में अनुवेलंधर नाम नागराज का कर्कोटक नाम का पहाड है । वहाँ रहनेवाले नागराज भी कर्कोटक कहलाते हैं । इसप्रकार दूसरे देवो के लिए भी समझना ।

वरुण का आधिपत्य

जैनशासन का भक्त श्री वरुणदेव कुआ, बावडी, तालाव, नदी, नाले आदि मे रहे हुए पानीपर वर्चस्व रखता है । इसलिए अरिहत देवो के अभिषेक के लिए शान्तिस्नात्र, अष्टोत्तरी स्नात्र पूजन के लिए पानी को बहुमान और सविधि लाने मे आता है । जिसके लिए अट्ठाई महोत्सव करने मे आता है और चतुर्विध सघ स्तवन आदि गाते हुए और बाजे आदि बजाते हुए जलयात्रा का वरघोडा (जिस मे सैकडो, हजारो रुपये खर्च होते हैं) निकालते है और जलाशय (पानी का स्थान) पर जाते है । वहाँ अभिषेक के लिए लेते हुए पानी की विधि इसप्रकार की जाती है । विधि-

इसप्रकार [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] कर, [illegible] [illegible] महात्मान् निमंत्रण देने के बाद अन्न द्रव्य [illegible] किया जाता है और हाथ जोड़कर इसप्रकार विनती की जाती है।

स प्रतीच्यां दिशो नाथो—वरुणो मकरस्थितः ।
[illegible] शान्तये सोऽस्तु, [illegible] प्रसीदतु ॥

कुबेर का वर्णन

अब चौथा लोकपाल वैश्रमण कुबेर का विमान सौत्रमावतंसक नाम के पश्चिम भाग मे है। उसकी आज्ञा मे वैश्रमणकायिक वैश्रमणदेव कायिक सुवर्णकुमार, सुवर्णकुमारियें, द्वीपकुमार तथा कुमारियें, दिक्कुमार और कुमारियें, वाणव्यतर और व्यतरियें आदि दूसरे भी देव हैं। जो लोह सुवर्ण, रजत, हीरा, मोती, माणक, सीसा और दूसरे भी कपड़े, फल, पुष्प आदि की वर्षा करनेवाले हैं। चाहे जिस स्थानपर गड़े हुए धन आदि को जाननेवाले है और उन उन स्थानो से धन लेकर तीर्थंकर देवो के जन्मादि समय मे उस धन को वितरण करने का काम करते है।

ये लोकपाल, ग्रहदेव, जैन शासन को मान्य है। इसलिए ही शाति-स्नात्र, अजनशलाका, प्रतिष्ठा आदि विधि मे नवग्रह, दश दिक्पाल पूज्य है, सन्मान्य है और बडी शाति मे प्रतिदिवस स्मरण किये जाते है। वह इसप्रकार है।

"ॐ ग्रहाश्चन्द्रसूर्याङ्गारक बुधबृहस्पति—शुक्र—शनैश्चर—राहु—केतु सहिता सलोकपाला· सोमयमवरुण कुबेर वासवादित्य—स्कद विनायक—उपेता (युक्ता) ये चान्येऽपि ग्राम—नगर—क्षेत्र देवता आदय· सर्वे प्रीयन्ता प्रीयन्ता, अक्षीण कोशकोष्ठागारा नरपतयश्च भवन्तु स्वाहा।

॥ सातवा उद्देशा समाप्त ॥

※ ※ ※

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इन्द्रियाँ पांच हैं।

स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रवण।

इन पांचों में प्रथम साधन और करण साधन में निरुक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ "स्पृशति–स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम्" अर्थात् दूसरे पदार्थों को जो स्पर्श करता है अथवा आत्मा के उपयोग में जो पदार्थ स्पर्श किये जाते हैं, अथवा जिसके आश्रय से शीत उष्णादि पर्याय जानने में आते हैं। उसे स्पर्शेन्द्रिय कहते हैं। इसीप्रकार "रसति–रस्यतेऽनेन। जिघ्रति–जिघ्रतेऽनेन। चष्टे या चेष्ट अनेन। शृणोति श्रूयतेऽनेन येति रसनम्, घ्राणम्, चक्षु तथा श्रवण।"

इस प्रकार इन इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति होती है। ये इन्द्रियाँ नियत विषय को ही ग्रहण करने वाली होने से स्पर्शेन्द्रिय पदार्थों में रहा हुआ कठिन, कोमल, भारी, हलका, ठंडा, गरम, स्निग्ध और रूक्ष, ये आठ स्पर्श ग्रहण करने की शक्ति रखते हैं। पदार्थ मात्र में आठ स्पर्श ही होते हैं।

रसनेन्द्रिय–पदार्थों में रहा हुआ तीखा, कडवा, कषायला, खट्टा और मीठा रस ग्रहण करती है।

चक्षुरिन्द्रिय–काला, सफेद, नीला, पीला, और लाल रंग ग्रहण करती है।

श्रवणेन्द्रिय–**सचित्त** यानी जीवित मनुष्य के मुख से निकला हुआ

दुर्गति मे पडकर उनके कटुक फल भुगतने के पश्चात् भी अभी तक पुद्गल द्वारा उत्पन्न हुए राग द्वेष की परिणति का बदलने की दृष्टि प्राप्त नही कर सके है। बस, यही हमारे जीवन की और शिक्षा की करुणता है। भगवती सूत्र का प्रश्नोत्तर स्पष्ट है, श्रोत्रेन्द्रिय के निमित्त सबही पुद्गल का परिणाम शुभ या अशुभ रूप होता है। इसीप्रकार चक्षु इन्द्रिय भी सुन्दर और कुरूप को ग्रहण करती है, घ्राणेन्द्रिय भी सुगन्ध और दुर्गन्ध के पुद्गलो को ग्रहण करती है, रसनेन्द्रिय भी सरस और कुरस को ग्रहण करती है, स्पर्शेन्द्रिय भी सुहावने और बुरे स्पर्श के परिणाम को ग्रहण करती है। सूत्रका गूढार्थ स्पष्ट होते हुए भी 'व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्ति "' विवेचन से विशेप ज्ञान होता है।' इस न्याय के अनुसार प्रत्येक मानव के जीवन को स्पर्श करता हुआ विपय होने के कारण जरा इसपर विशेप रूप से विवेचन करते है।

पुद्गलों का चमत्कार

रसोईघर मे चतुर रसोईये के हाथ मे 'उडद की दाल' पौद्गलिक होने के कारण खानेवाले के लिए अमृततुल्य या विपतुल्य नही है। अर्थात् इस दाल को खानेवाला समयपर आनेवाली अपनी मौत से नही बचा वैसे ही उक्त दाल को खानेवाला कोई भी तत्काल नही मरा, नही मरता हे और नही मरेगा। यानी उडद की दाल न तो अमृत है और न विप है। फिर भी पौद्गलिक वस्तु को लेकर मानव के मन मे एका राग की परिणति, यानी इस दाल का नाम सुनते ही 'जम्प' लेने लग जाता है और प्रसन्नचित्त एव हर्पित होकर उसे अत्यन्त स्वादपूर्वक खाता है।

जबकि कोई अन्य पुरुप उसी दाल का नाम सुनते ही स्तब्ध हो जाता है और पूर्ण रूप से रोप मे आकर दाल बनानेवाले को कितनी ही गालियाँ देता है। दोनो के लिए दाल एकसी है फिर भी दोनो जीवो मे रागद्वेप की परिणति के फल भी सर्वथा पृथक् है।

ये प्रश्नोत्तर राजगृह में हुए ।

इसमें चमर की सभा संबंधी प्रश्न हैं। अर्थात् चमर की तीन सभाएं बताई हैं। शमिका (शमिता) चंडा और जाता । ※ ५२

मास्टर से उत्तरोत्तर उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ता हुआ प्रोफेसर बना किन्तु मेरे मन और इन्द्रियों को संयम की शिक्षा न दे सका ।

कभी डाक्टर बना किन्तु मेरे आत्मा की दवा और मेरे दुःख का निदान मैं स्वय नहीं कर सका ।

कभी वकील बना किन्तु मेरे जीवन की वकालत करने मे समर्थ नहीं हो सका। इसलिए ही मैं श्रीमन्त हूं किन्तु हृदय का दरिद्र हूं। सत्ताधारी हू फिरभी आन्तरिक जीवन का दानव हू। तब इस प्रकार के पदाधिकारी बनने से क्या लाभ?

पुद्गल एक है किन्तु मेरे जीवन के राग द्वेष के कारण मैं दुःखी हू।

इन दुखो से छुटकारा पाने के लिए मेरे खान पान मे, रहन-सहन मे क्रिया करने मे, उठने बैठने मे और व्यापार व्यवहार मे सयम लाना यही एक परम सुख का, शाति का समाधि का मुख्य कारण है।

पुद्गल छोडने के नही है किन्तु उनमे रही हुई है लालसा छोडनी है। स्त्री नही छोडनी है किन्तु उनके प्रति बनी हुई दुराचार की भावना छोडने की है। वैसे ही श्रीमत पना और सत्ता नही छोडनी है किन्तु उनके प्रति साध्य भावना को त्यागकर साधन भाव पैदा करना है।

※ ५२ तीसरे शतक का यह अन्तिम प्रश्न है। राजगृही नगरी में समवसरण की रचना हुई है। और गौतमस्वामी द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने फरमाया है कि दक्षिणाधिपति असुरराज चमरेन्द्र की तीन प्रकार की सभाए होती है।

भी उपस्थित हो जाते है। हम इतना जान सकते है कि ये तीन सभाए एक दूसरे की पृथक है और परस्पर एक दूसरे को मान देकर इन्द्रलोक का गौरव बढाती है।

किस सभा मे कितने सभासद है और उसमे भी कितने देवता और कितनी देवियां है ? अब यह बात जीवाभिगम सूत्र के अनुसार लिखी जाती है।

पहली सभा मे सभासद २४००० देव है।

मध्यम सभा मे २८००० देव है।

अन्तिम सभा में ३२०० देव हैं।

देवियो की सख्या अनुक्रमनुसार ३५०, ३०० और २५० है।

पहली सभा के सभासदो की आयु मर्यादा २॥ पल्योपम की है। मध्य मे २ पल्योपम और बाह्य सभा मे १॥ पल्योपम है। देवियो की आयुष्य मर्यादा अनुक्रम के अनुसार १॥, १, ०॥ पल्योपम का है। इस-प्रकार उत्तराधिपति बलिइन्द्र के लिए भी समझना चाहिए।

केवल देवो की सख्या मे चार चार हजार की सख्या कम करनी है। जबकि देवियो की उपरोक्त सख्या मे १०० की सख्या की वृद्धि करनी है।

अब वैमानिक देवो की सभा, तथा सभासदो की सख्या नीचे लिखे अनुसार समझनी है।

सभा तो उपरोक्तानुसार तीन प्रकार की ही समझना। जबकि निम्नानुसार यह सख्या है —

देवलोक के नाम	आभ्यन्तरा	मध्यमा	बाह्या
१ प्रथम देवलोक	१२००० देव	१४००० देव	१६००० देव
सौधर्म	७०० देवी	६०० देवी	५०० देवी
२ द्वितीय देवलोक	१०००० देव	१२००० देव	१४००० देव
ईशान	९०० देवी	८०० देवी	७०० देवी

उपर्युक्त तीन गुण मानवता की मौलिकता के समान है। जिसकी प्राप्ति राक्षस, दानव और असुरवृत्ति के मानव को नही होती है। अत एव राक्षस, दानव और असुर सम्पूर्ण समाज के पूरे कट्टर शत्रु है। और इन तीनो गुणो से युक्त माँ होती है। पुत्र पर दया करने वाली पुत्र को रोटी देने वाली तथा पुत्र के सारे जैसे अपराधो को क्षमा कर देने मे पूर्ण क्षमता रखने वाली माँ है।

जैसे मोक्षकी प्राप्ति के लिए सम्यक्त्व की अत्यन्त आवश्यकता है वैसे आध्यात्मिक जीवन बनाने के लिए उपर्युक्त ३ गुणो की नितान्त आवश्यकता है। इनको धारण किये बिना आध्यात्मिक जीवन की कल्पना निरा दम्भ है। झाँसापट्टी है और परमात्मा की अनन्त शक्तियो का भयकर अट्टहास है।

इन गुणो को स्वार्थपूर्ति के ध्येय से भले ही विकसित करें किन्तु इसका फलादेश हमारे जीवन मे दभ पोपक ही रहेगा। इसलिए यह स्वीकार किये बिना नही रहा जाता कि आज के पुरुप मे ये तीन गुण विकसित हुए बिना केवल सत्ता रूप मे ही पडे हैं। अन्यथा पशुओ के लिए पाजरापोल का निर्माण करने वाले, कुत्तो के लिए रोटी और कबूतरो के लिए चने डालने वाले पुरप वास्तव मे यदि दयालु होते तो आज का मानवसमाज भूखा एव नगा न रहता और नउनको दु खो का महसूस होता। दूसरी तरफ समाज के कथित धार्मिक, धर्म के अनुयायी और उपदेशक मालमसाला खाते हैं। श्रीखड पूरी उडाते हैं, दूध के कटोरे के कटोरे भरे हुए पी जाते है। सूठ पीपरामूल और खिचडी मे घी डालकर खाते हैं। ये दयालू और दानेश्वरी के लक्षण नही है किन्तु निदर्यी तथा निध्वंस परिणामी के है। हमे अच्छी तरह से यह समज लेना है कि—'धम्मस्स जणणी दया' धम्मस्स जनकोविवेक।" धर्म की माता दया है और बाप (पिता) विवेक है, जिसके अभाव मे चाहे जितनी श्रद्धा हो और चाहे जितने श्लोको का ज्ञान प्राप्त कर लिया हो व्यर्थ है।

अंग्रेजी मे धर्म शब्द का पर्याय 'रिलीजन' शब्द है। जिसका अर्थ है, नियंत्रक मानव, मानो जुदा हुआ मानव दूसरों के साथ रिलीजन में अर्थात् परस्पर विनाश की सम्भावना करके एक ढाँचे में सीधे आ जावें। समूचा समाज आसुरी वृत्तियों के कारण ईश्वरप्राप्ति सत्तारूढ़ परमात्मा से अलग है। इसीलिए वह जुदाई, दया, दान, क्षमा आदि परमात्मा के आदेशों को जीवन मे उतारकर तमाम अखिल देश के मार्गपर आकर दूर करे। यानी क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रपंच आदि का त्याग करे।

उपर्युक्तानुसार माता के हृदय मे रहे हुए तीन गुण अपने जीवन मे उतारने के लिए हमारी भी माताकी तरफ़ प्रतिक्षण सामने रखनी चाहिए। जिससे मानवता का विकास करने के लिए हम समर्थ बन सके,

मानवता रहित हमारे आधुनिक जीवन मे उल्टी गगा वह रही है। फिर भी हम सही मार्ग नही देख सकते है और न समझ सकते हैं। उसका एकमात्र कारण यही है कि 'मातृत्व हृदया स्त्री शक्ति का बहुमान हम नहीं कर सके है।

अद्‌भुतशक्ति सपन्ना, क्षमाशील, प्रेममूर्ति स्त्री को पहचानने मे हम असमर्थ रहे हैं। यदि स्त्री को हमने पहचानी है तो केवल स्वार्थ पूर्ति तक ही। अतएव स्त्री शक्ति के साथ दूपित और पापसे परिपूर्ण भावना (वासना) के कारण ही हमारे जीवन मे वडी से वडी खोट (दोप) रह गई है, जो पूरे ससार मे किसी भी पदार्थ से तथा ऊचे से ऊचें ज्ञान विज्ञान से दूर नही हो सकती। इसप्रकार पुरुप जाति के जीवन मे स्थित मूल खोट ही हमको आगे वढने नही देती, उसीसे हमारा ज्ञान विज्ञान उल्टे रास्तेपर चढ गया और मानव मात्र का शत्रु वना तथा हम सवने सम्मिलित होकर ससार को हिंसा, झूठ, चोरी, मैथून और परिग्रह की वकसीश देकर कडुवे जहर के तुल्य वना दिया।

इस माया चक्र से उद्धार पाने के लिए स्त्री शक्ति का वहुमान ही आध्यात्मिक जीवन के लिए अद्वितीय शक्ति है, पावर है तथा उन्नत

" तीसरे शतक का समाप्ति वचन "

अज्ञानियों के अज्ञानरूपी अन्धकार को हटाने के लिए ज्ञानरश्मिमान सूर्यसमान, संयम और ब्रह्मचर्य की आराधना में समाधिरूप हुए शेषनाग के सदृश, उपदेशामृत से सब जीवों के कषायों को शान्त करने में चन्द्रमा के तुल्य, जर्मन, फ्रांस, इटली, अमेरिका, यूरोप आदि पाश्चात्य विद्वानों को जैनधर्म का परिचय कराने में ब्रह्मा के जैसे, स्याद्वाद न्यायादि तत्त्वज्ञानद्वारा भारतीय प्रचंड विद्वानों की रक्षा करने में विष्णु के सदृश, अज्ञान, मिथ्या भ्रम और रूढ़िवाद का समूल नाश करने में शंकर स्वरूप शास्त्रविशारद, महान् विभूति, जैनाचार्य, श्री १००८ श्री विजय धर्मसूरीश्वरजी महाराज भगवान महावीर स्वामी की ७४ वी पाट परम्परा को देदीप्यमान करके जगत मे अमर बन गये हैं ।

उनके शिष्य शासनदीपक मुनिराज श्री विद्या विजयजी महाराज ने अपने स्वाध्याय के लिए भगवती सूत्र के ६ शतक तक सक्षेप मे वर्णन किया था । उसको सुधार कर तथा बढ़ाकर उनके सुशिष्य न्याय, व्याकरण, काव्य तीर्थ, पन्यासपदविभूषित श्री पूर्णानंद विजयजी (कुमार श्रमण) ने विस्तृत टिप्पण द्वारा स्पष्ट करके पुस्तकारूढ किया है ।

" शुभं भूयात् सर्वजीवानाम् "

॥ शतक तीसरा संपूर्ण ॥

है। पीते है, और सब प्रकार का आनंद लूटते है। भ्रमते है, घूमते है और पृथक् पृथक् क्रीडाएं करते है। जब कोई मजबूरी आती है तब आक्रंदन करते है। तथा दुःखी भी होते है। विषय वासना में तथा ऐशआराम में मग्न रहते है। जिस प्रकार मनुष्य लोक में राजा, प्रधानमंत्री, कोतवाल, फोजदार, सेनापति, सैनिक तथा नगर सेठ होते है वैसे ही देवलोक में भी होते है। इन विषयो का खूब विस्तृत स्पष्टीकरण जैन–आगमो में है। यद्यपि देवलोक में चोरी करनेवाले तथा लूटपाट करनेवाले अपराधी नहीं होते है। तो भी पुण्यकर्म की सत्ता विद्यमान होने के कारण पुण्य के साम्राज्य को सूचित करनेवाले, प्रत्येक विमान में देव १० प्रकार के होते है। उनका वर्णन निम्नानुसार है –

इंद्र की अगाध शक्ति

(१) इन्द्र – यानी देवगति नामकर्म के उदय को लेकर अपने विमानवासी देवोपर जो आधिपत्य भुगतते है, उनको इन्द्र कहते है। इस इन्द्र महाराज की शक्ति कितनी है ? इसका उत्तर शास्त्रो में इसप्रकार मिलता है।

१० पुरुषो के बराबर की शक्ति १ बैल में होती है।

१० बैलो के बराबर १ घोडा
१२ घोडो के बराबर १ पाडा
१५ पाडो के बरासर १ हाथी
५०० हाथी बराबर १ सिंह
२००० सिंह बराबर १ अष्टापद
१० अष्टापद बराबर १ बलदेव
२ बलदेव बराबर १ वासुदेव
२ वासुदेव बराबर १ चक्रवर्ती

इन चक्रवर्ती महाधिराज के पास निम्नानुसार वैभव, सत्ता और सेना होती है –

शतक चौथा उद्देशक-१

नैरयिक नरक में जाते हैं ?

इसमे नैरयिक की हकीकत है। अर्थात् जो नैरयिक होते हैं वे नरको मे उत्पन्न होते है या जो अनैरयिक होते हैं वे नरक में उत्पन्न होते है ?

भगवान ने इसका उत्तर दिया है कि जो नैरयिक होते है वे नरको मे उत्पन्न होते हैं। और अनैरयिक नरको मे उत्पन्न नहीं होते हैं।

यह विषय विचारणीय है। साधारणतया हम जानते हैं कि मनुष्य, पशु आदि नरक में उत्पन्न होते हैं। तब इसमे इसप्रकार कहा गया है कि नैरयिक जो नारकी होता है वह नरक में उत्पन्न होता है यह अपेक्षाकृत वचन है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से इस प्रकार कहा गया है। अर्थात जीव के पास जिस गति के योग्य आयुष्य की हाजरी है वह उस गति का गिना जाता है। मनुष्य भव मे या पशु भव मे नरक का आयुष्य कोई बांधकर मरता है तो उस समय उस जीव के पास नरक का आयुष्य है। परन्तु मनुष्य या पशु का आयुष्य नहीं। इस कारण से वह नैरयिक है। और नैरयिक नरक का आयुष्य वाला होने से वह नैरयिक ही कहलाता है। और वह नरक में जाता है। ※ ५४

※ ५४ चार गति मे जन्म मरण अनिवार्य है चार गति रूप ससार मे सात नरकभुमि के सब नरकजीव, चार निकाय के सपूर्ण देव, असुर,

बाधना पड़ता है। तदनन्तर उस गति के लिए नामकर्म और उस गति मे ले जाने वाले आनुपूर्वि नामकर्म उपार्जन करना पड़ता है। शेष सात कर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नाम गोत्र और अन्त-राय) के 'बन्धन' यह जीवात्मा प्रति समय करता है, क्योंकि ', जहाँ क्रिया है वहाँ कर्म है"। मन की जाग्रतावस्था मे और स्वप्न काल मे अनेक भवों के अपने सहयोगी भावमन मे एक समय के लिये भी स्थिरता नही है। क्यों-कि गत भवो मे भुगते हुए पदार्थों की स्मृति और इस भव मे पदार्थों को प्राप्त करने के लिये तत्परता इन दोनो कारणो से मन मे स्थिरता नही रहती है। अनुभव तो यहाँ तक कहता है कि "पवन की गाठ बाधना सरल है, नदियो के वेग को रोकना सरल है, आकाश मे तारे उतारने सरल हो सकते है, सर्प बिच्छु, व्याघ्र, सिह, भूत, प्रेत, आदि योनियो के जीवो को हमारे गुलाम बनाना सरल है किन्तु मन - मर्कट मे स्थिरता लाना बहुत कठिन है।"

मन जिन लेश्याओ मे रमण करता है उनसे सबधित कर्मों को बाधे सिवा छुटकारा नही है। तथा मन जब चचल होता है तब शरीर मे चचलता आये बिना नही रहती है। मन के विचारो मे डूबे हुए अपने शरीर के प्रत्येक अग उपाग भी स्थिर नही रह सकते है, इसलिए " चचलता यह गति है और गति यह क्रिया है। और क्रिया यह कर्म है"। उसको स्वाधीन बनाने के लिए ही सालबन ध्यान उत्तमोत्तम साधन स्वीकार करने के पश्चात् भी हमारा भावमन दूसरे ससार मे अर्थात भुगते हुए भोगो की स्मृति मे किस प्रकार सरक जाता है (चलायमान हो जाता है)। मानो हमारे साथ हाथ ताली ही खेल खेलता हो, इसलिए कहा जाता है कि द्रव्य मन थोडे समय के लिए स्वाधीन रहता होगा ? फिर भी भाव मन की स्थिरता दु साध्य है।

इस कारण से मन की अस्थिरता के कारण सात कर्मो का बधन प्रतिसमय होता है अत जैनागम कहता है कि जीवात्मा कर्म बधन के बिना

जैसे कि दूसरे को मारनेवाला या सताने वाला जीव मरनेवाले जीव के साथ वैर से बंध जाता है।

स्वस्त्री का त्याग करके परस्त्री का उपभोग करने वाला पुरुष परस्त्री तथा उनके सगे सबंधियो के साथ राग तथा वैर से बंध जाता है।

इसके अनुसार सर्वत्र घटालेना है। सार यह है कि मनुष्य मरकर नरक मे जा सकता है। किन्तु नरक का जीव मरकर नरक मे नहीं जाता हैं।

घडा पहले था और भविष्य मे भी उसका अस्तित्व रहेगा, तथापि वर्तमान समय मे यह घडा जीवात्मा के लिए क्या काम का ? अत जिस समय प्यास सताती है, और जिस घड़े से पानी पीने को मिल जाता है, वैसे घडे को ही घडा कहते हैं।

पहले अनतभव हुए है। भविष्य मे भी अनत भव होगे, किन्तु ऋजुसूत्र इन सब वातो को मानने के लिए उत्साहित नही है। अर्थात् इस वातपर वेध्यान रहता है, इस ऋजूसूत्र का मानना निम्नप्रकार है — भूतकाल चाहे जितना व्यतीत हुआ हो वह अब क्या काम का ? भविष्यकाल चाहे जितना होगा, इस समय मे इस वात को मानने की क्या जरुरत ? इसलिए वर्तमान समय मे जो वर्तता हो जीव भी उसी रिति से सवोधित होगा जैसे जिस समय जीव मे क्रोध वर्तता है उस समय जीव क्रोधी कहलाता है। किन्तु सयमी नही। मैथुनभाव मे वर्तता है तब जीव मैथुन कर्मी है किन्तु व्रती नही। जब समताभाव रहता है तव जीव औपशमिक भाव का मालिक है। किन्तु औदयिक भाव का नही। जब जीवात्मा को कृष्ण लेश्या वर्तती है तब जीव द्रव्यसयमी है। किन्तु भाव सयमी नही और जब शुद्धतर पद्मलेश्या वर्तती है तव जीव भावसयमी है।

प्रस्तुत प्रश्न मे भी है भगवान् नैरयिक होते है वे नरक मे उत्पन्न होते है या जो अनैरयिक होते हैं वे ?

आयुष्य अन्तिम समय तक भोग रहा है तब तक वह नारक जीव ही कहा जाता है। ऐसी स्थिति में नारक का जीव नरक में से किस गति में बाहर आयेगा? इसीलिए कहा गया है कि "नारक जीव ही नरक में जाता है और नारक नरकमें से बाहर नही आता है।" प्रश्नकर्ता गौतमस्वामी महाज्ञानी है और उत्तरदाता महावीरस्वामी पूर्ण ज्ञानी हैं।

यहाँ निरय निरक आदि शब्द नरक भूमी की सूचना देने वाले हैं। तथा नैरयिक और नारक शब्द नरक में जाने वाले जीवों के लिए है।

छट्टे गुण ठाण मे भी चार ज्ञान

अब इस चालु प्रश्न मे कृष्ण लेश्या मे वर्तते हुए जीव को कितने ज्ञान होते है? इसका उत्तर भगवान इस प्रकार देते है कि – दो, तीन और चार ज्ञान भी कृष्ण लेश्या के मालिक को होते हैं।

१ मतिज्ञान – श्रुतिज्ञान २ मतिज्ञान – श्रुतज्ञान– अवधिज्ञान ३ मतिज्ञान–श्रुतिज्ञान और मन पर्यव ज्ञान ४ मतिज्ञान–श्रुतिज्ञान, अवधि-ज्ञान और मन पर्यवज्ञान, श्रुतज्ञान की उपस्थिति मे मतिज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है। तत्पश्चात् अवधिज्ञान होता है। अथवा इस ज्ञान के बगैर भी मन पर्यवज्ञान हो सकता है। क्योंकि उन उन कर्मों के आवरणो की क्षयोपशम सामग्री ज्ञान के प्रति विचित्र प्रकार की होती है। अर्थात् आमर्पोषधि आदि लब्धियो मे से कितनी ही प्राप्त हुई लब्धियो के मालिक मुनि को उसीप्रकार के अध्यवसायादि लक्षणवाली मन पर्यव ज्ञानावरणी की ही क्षयोपशमसामग्री प्राप्त होती है। किन्तु अवधिज्ञानावरणीय की क्षयोपशम सामग्री प्राप्त नही होती है। इसलिए उनको अवधिज्ञान विना ही मन पर्यव ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न–अतिविशुद्ध परिणामवाले मुनि को ही मनपर्यवज्ञान होता है, तब कृष्णलेश्या तो विशुद्ध स्वरूप नही। इसलिए इस लेश्या के मालिक को मन पर्यवज्ञान कैसे उत्पन्न होगा?

सत्य बात इतनी ही है कि —

आत्मलक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए,

निश्रेयस (मोक्ष) के मार्ग में आगे कदम बढ़ाने के लिए।

क्षायोपशमिक भाव में से निकल कर क्षायिक भाव के दर्शन करने के लिए।

अनादिकाल के जन्म और मृत्यु के भय को टालने के लिए।

मुनिधर्म को दीपाने के लिए और अपनी आत्मा को ही अरिहंत बनाने के लिए।

साधक मात्र को अप्रमत्त भाव में विचरण करना चाहिए अथवा इस अवस्था को सुधारने के लिए ही प्रयत्नशील रहना चाहिए।

॥ नवाँ उद्देशा समाप्त ॥

प्राप्त करती है। तब नील लेश्या को स्वभाव को प्राप्त करती है। अर्थात् नील लेश्या का वर्ण, रस, गध तथा स्पर्श को प्राप्त करती है। कृष्णलेश्या का स्वामी मरते समय यदि नील लेश्या मे परिणमता है तो इस लेश्या मे ही मरता है।

मनुष्य और तिर्यंच का जीव दूसरे भव को प्राप्त करने की इच्छावाले होते हुए नीललेश्या के योग्य द्रव्यो के सपर्क से कृष्णलेश्या के योग्य द्रव्यादि, सहकारी कारण को लेकर तथारूप जीव के परिणाम से नीललेश्या के रूप मे परिणमन को प्राप्त होगा और नीललेश्या के योग्य द्रव्यो के सहकार से इस लेश्या मे परिणत होता हुआ यह जीव इस लेश्या को लेकर भवान्तर करेगा। इन दोनो गति के जीव वर्तमान भव मे कृष्ण लेश्या मे विद्यमान होते हुए भी नील लेश्या के भाव परिणमित होते हुए कृष्ण लेश्या का द्रव्य भी नीललेश्या मे परिणत होगा।

जैसे छाछ (मन्ठ्ठा) रूप को प्राप्त होते हुए दूध के पर्याय, छाछ के पर्याय, वर्ण, रस और गध को प्राप्त करते हैं।

जैसे शुद्ध वस्त्र (सफेद वस्त्र) लाल रग के कारण उस रग को प्राप्त करता है। अर्थात् लालरग के परिणम को प्राप्त करता है।

यहाँ कृष्णलेश्या नीललेश्या के परिणमन को प्राप्त करती है। नील-लेश्या कापोतलेश्या के सपर्क से कापोत लेश्या वनती है। कापोतलेश्या तेजोलेश्या मे और तेजोलेश्या पद्मलेश्या मे तथा पद्मलेश्या शुक्ललेश्या मे परिणमती है।

जैसे उस उस वर्ण (रग) को धारण करनेवाले द्रव्यो के सपर्क से वैदूर्य मणि मे भी रग का फेरफार (परिवर्तन) हो जाता है। फिर भी वैदूर्यमणि अपने स्वभाव को नही छोडता है। उसीप्रकार कृष्णलेश्या के योग्य द्रव्य भी अपने मूल स्वभाव को छोडे विना ही नीलादिद्रव्यो के सपर्क मात्र से इस लेश्या के आकारादि को प्राप्त करता है। यह वात देव

है। और भाव की परिणतिरूप कारण भाव में आगये किसी भी शुक्ललेश्या प्राप्त होते ही केवल ज्ञान प्राप्त कर गये।

अब लेश्याओं का वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कहते हैं, वह इस प्रकार है --

' कृष्णलेश्या '

वर्ण—वर्षा ऋतु के मेघ, काजल, भैंस के सींग, कोयल, हाथी के बच्चे और काले भ्रमर जैसे काले रंग की होती है अर्थात् कृष्णलेश्या प्राप्त होते ही आत्मा के परिणाम भी काले रंग के जैसे बन जाते हैं।

रस—कड़वी तुंबी, नीम के फल, द्राक्ष, जैसी कड़वी रस की होती है, अर्थात् इस लेश्या के मालिक का रस कड़वी तुंबी के जैसा कड़वा बन जाता है।

गध—मरी हुई गाय के समान दुर्गन्धवाली।

स्पर्श—अयत्त ठडा और रुखा सूखा होता है।

' नीललेश्या '

वर्ण—भृंग, चास, तोता, और उसकी पाखे, कबूतर तथा मोर की गर्दन जैसा वर्ण होता है।

रस—पीपर, अदरक, मिर्च आदि के स्वाद जैसा होता है।

गध—मरे हुए जीव के कलेवर जैसी गध होती है।

स्पर्श—अत्यन्त ठडा होता है।

' कपोतलेश्या '

वर्ण—अलसी तथा वृताक के फल जैसा होता है।

रस—कच्चे वीज तथा वोर के जैसा रस होता है।

परिणामों को लेकर जघन्य कृष्णलेश्या, मध्य परिणामों को लेकर मध्यम कृष्णलेश्या, और उत्कृष्ट परिणामों को लेकर उत्कृष्ट कृष्णलेश्या होती है। अब जघन्य में भी तीन प्रकार के अवान्तर प्रकार रहेंगे। जघन्य में जघन्य, मध्यम जघन्य और उत्कृष्ट जघन्य, इस प्रकार लेश्या के परिणाम जीव मात्र के भिन्न भिन्न होंगे। इसलिए लेश्याओं के परिणाम स्थान अनेक होते हैं। जैसे क्लिष्ट, क्लिष्टतर और क्लिष्टतम तथा सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम परिणाम होने से जीव में पूर्व भव के कर्मों का कारण होने से उन जीवों का संस्कार उसी रूप के बन जाते हैं। इसलिए प्राय करके ज्ञान विज्ञान होते हुए भी संस्कारों की विचित्रता दुस्त्याज्य है।

पाप तथा पुण्य के भेदो की जानकारी होते हुए भी पड़े (जमे) हुए संस्कार अमिट होते है।

आश्रव सवर के भेदो को अगुलियो पर गिनते हुए भी खाने पीने वोलने मे पडी हुई आदत छोडना अति मुश्किल है। इसलिए बाह्य जीवन सुन्दर दिखलाई देते हुए भी आन्तर जीवन क्लिष्ट हो सकता है। और वाहय जीवन मे भद्दा दिखाता हुआ भी मनुष्य का स्वभाव, सरल, पवित्र और अहिंसक भी होता है। ये और इसके समान हजारो कारणो को लेकर परिणामो की विचित्रता अनुभव गम्य है।

"दश उद्देशों के साथ चौथा शतक पूर्ण हुआ"

शतक – पांचवां

शतक पांचवें का संपादकीय पुरोवचन

चंपानगरी

इस शतक का प्रथम तथा दसवाँ उद्देशा चंपानगरी में वर्णित है। इस ऐतिहासिक नगरी की महत्ता की जानकारी हम सबको होनी चाहिए।

यह नगरी अंगदेश की राजधानी है। बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य स्वामी के पांच कल्याणक यहाँ हुए हैं।

जब अतिशय पुण्यशाली तीर्थंकर परमात्मा का जन्म होता है, तब इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है और इंद्र अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा उसे जानता है। तथा तीर्थंकर भगवान का जन्म हुआ जानकर सभी इंद्र और देव वहां आते हैं और भगवान् को मेरुपर्वतपर लेजाकर जन्माभिषेक करते है। इसप्रकार पांच कल्याणक का जन्मोत्सव इंद्र तथा देवों द्वारा मनाया जाता है। इसलिए कल्याणक कहे जाते है। केवलज्ञान के मालिक होनेपर तीर्थंकर नाम कर्म का उदय होता है, और देवों द्वारा रचित समवसरण मे विराजमान होकर तीर्थंकर परमात्मा उत्कृष्टतम भावदया के कारण तथा भाषा वर्गणा के पुद्गलों को क्षय करने के लिए भी देशना देते हैं।

तीर्थकृत्–स्वामिनो वाच. कतकक्षोदसोदरा: ।
जयति त्रिजगच्चेतो जल नैर्मल्यकारणम् ॥

दरवाजे पर छिड़का तब तीन दरवाजे खुल गये। इसप्रकार शील व्रत पालन करने की महिमा बढ़ी।

उस सती नारी को अपने शील व्रत पालने का अहंकार न आ जावे और दूसरी भी शील व्रती नारियों का सन्मान हो, इसलिए तीनं दरवाजे पर पानी छिड़का और दरवाजें खुल गये किन्तु उन चारों में से एक द्वार पर पानी न छिड़कने के कारण वैसे का वैसा बंद रहा।

लक्षणवती नगरी के राजा हम्मीर और सुलतान ममदीने वि. स. १३६० मे चिरकाल पर्यन्त बंद रहे हुए दरवाजे को तोडा और उसमे से सुंदर पत्थर निकालकर ले गये।

अत: प्रात: काल के मंगल प्रभात में सभी सतियों के साथ सुभद्रा सती का भी गुणगान निम्नप्रकार की पंक्तियों द्वारा गाया जाता है:—

" काचे तांतणे चालणी बांधी, कुआ थकी जल काढीयुं रे,
कलंक उतारवा सती सुभद्राए, चंपा बार उघाडी यारे।"

इसप्रकार यह नगरी सुभद्रा के शील व्रत की परीक्षा के कारण स्मरणीय है!

तीसरी महत्त्वपूर्ण घटना कौशाम्बी नगरी में चंदनबाला के हाथ से भगवान् महावीर स्वामी का महान् अभिग्रह पूर्ण हुआ था और १७५ दिन के उपवासी भगवान् महावीरने पारणा किया था। घटना इसप्रकार है।

एक समय की बात है कि दधिवाहन नाम का राजा चंपा नगरी मे राज्य करता था। उसकी पत्नीका नाम धारणी था। उसके एक वसुमती (चंदनबाला) नाम की कन्या थी।

वैशाली गणतंत्र के मुख्य नायक तथा भगवान महावीर स्वामी के सगे मामा चेटक नामक महाराजा की ७ (सात) पुत्रियां थीं। इनमें से एक धारिणी नाम की पुत्री का विवाह दधिवाहन राजा के साथ हुआ था। तथा इनकी दूसरी पुत्री मृगावती नाम की कन्या की शादी शतानीक राजा के साथ हुई थी। इसप्रकार संबंध में ये दोनों साढू हुए। फिर भी अहंकार वश दोनों में लड़ाई छिड़ी और उसमें दधिवाहन राजा हार गया। रानी धारिणीने अपने शील धर्म की रक्षा के लिए प्राण छोड़ दिये। किन्तु उसकी पुत्री वसुमती कौशाम्बी नगरी में भरे बाजार में बेची गई। उसको धनावह नाम के सेठ ने खरीदी। उसकी भाषा चन्दन के समान शीतल होने से उसका नाम चंदनबाला रखा। वहाँ भी उस सेठ की स्त्री मूलाने क्रोध में आकर चंदनबाला के सिर के बाल मुंडवा दिये। तथा उसके हाथ पैर में बेड़ी डालकर उस कालिमा भरे तलघर के तहखाने में बंद कर दी। तीन दिन के पश्चात् सेठ ने उसे बाहर निकाली और उड़द के बाकुले (उबाले हुए उड़द) सूप (छाज) में रखकर उसे खाने के लिए दिये। तत्पश्चात् सेठ स्वयं लुहार को बुलाने के लिए चला गया।

इसी समय यहाँ पर महावीर स्वामी आये और उन्हों चन्दनबाला के हाथ से भगवान का अभिग्रह पूरा हो गया। तब चन्दनबालाने उल्लसित भक्तिपूर्वक होकर उड़द के (बाकुला) तत्काल भगवान को बहोरा दिये (भोजन के लिए अर्पण किये)। तब सर्वत्र जय जयकार की ध्वनि हुई। तथा इधर चंदनबाला का भी दिव्य स्वरूप बन गया।

इसी कविने चन्दनबाला के विषय में गुजराती भाषा में निम्नानुसार ढालकड़ी लिखी है :-

" [illegible], [illegible]

[illegible] ।"

भ. महावीर स्वामी ने यहां चंपा के पास इस नगरी में तीन चातुर्मास किये । यहां पांडवकुल भूषण महादानेश्वरी राजा कर्ण भी इसी नगरी का राजा था ।

पितृहत्या के महापाप से अतिशय संतप्त हुए राजा कोणिक ने इस नगरी को मगध देश की राजधानी बनाई थी ।

शय्यंभवसूरी ने अपने पुत्र मनक मुनिराज की सुलभ आराधना के लिए इस नगरी में ही दशवैकालिक सूत्र की रचना की थी।

नवपद के महान आराधक महाराजा श्रीपाल का जन्म भी इसी नगरी में हुआ था । कर्मवश कोढी बने हुए श्री पाल के लग्न सती मयणासुंदरी के साथ होने से और सिद्ध चक्रयंत्र की आराधना के प्रभाव से उनका कोढ दूर हुआ । महान् ऋद्धिसमृद्धि के भोक्ता बनने के साथ दूसरी आठ राजकुमारियो के साथ शादी की । अंतमे अपने काका अजितसेन को हराकर पुनः चंपा का राज्य प्राप्त किया । श्रीपाल का रास प्रतिवर्ष आश्विन और चैत्र की ओलियाँ मे भावपूर्वक पढा जाता है ।

इसप्रकार अनेक ऐतिहासिक प्रसिद्ध घटनओं के कारण यह चंपानगरी एक समय वैभव के चरम सीमा तक पहुँच गई थी उसकी पवित्रता और महत्ता के गुणगान इतिहासज्ञों ने खूब किया है । जैन आगमों मे भी उनका उल्लेख अनेक स्थलोंपर किया गया है ।

※ ※ ※

अब जब कि मंदर पर्वत के पूर्व में दिन होता है तब पश्चिम में भी दिन होता है। तथा जब पश्चिम में भी दिन होता है, तब जंबू द्वीप में मंदर पर्वत की उत्तर दक्षिण में रात्रि होती है।

जब जंबूद्वीप के दक्षिणार्ध में अधिकाधिक बड़े मुहूर्त का दिन होता है। तब उत्तरार्ध में भी अधिक से अधिक अठारह मुहूर्त का ही दिन होता है और जब उत्तरार्ध में भी अठारह मुहूर्त का दिन होता है तब जंबू द्वीप में मंदर पर्वत के पूर्व पश्चिम में छोटी से छोटी बारह मुहूर्त की रात्रि होती है।

अब जब जंबूद्वीप में मंदर पर्वत के पूर्व में बड़े से बड़ा अठारह मुहूर्त का दिन होता है। तब जंबूद्वीप में पश्चिम में भी अठारह मुहूर्त का दिन होता है और जब पश्चिम में बड़े से बड़ा अठारह मुहूर्त का दिन होता है तब उत्तरार्ध मे छोटी से छोटी बारह मुहूर्त की रात्रि होती है।

इस उपरोक्त सिद्धान्त से दिन और रात्त के समय की क्षयवृद्धि का हिसाब भी गिन लेना चाहिए। उदाहरणस्वरुप–सत्तर मुहूर्त का दिन होता है तब तेरह मुहूर्त की रात्रि, सत्तर मुहूर्त से थोडा कम लंबा दिन हो तब तेरह मुहूर्त से थोडी अधिक लंबी रात समझनी चाहिए।

जंबूद्वीप मे दक्षिणार्ध में छोटे से छोटा बारह मुहूर्त का दिन होता है तब उत्तरार्ध मे भी वैसा ही होता है। जब उत्तरार्ध में वैसा हो तब जंबूद्वीप मे मंदर पर्वत के पूर्व पश्चिम में बडी अठारह मुहूर्त की रात्रि होती है।

में मंदर पर्वत के पूर्व पश्चिम में अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी नहीं है। वहां अवस्थितकाल बताया गया है।

इसप्रकार लवण समुद्र में सूर्य संबंधी तथा उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल संबंधी जानकारी प्राप्त करनी है। ऐसे ही धातकी खंड कालोद और अभ्यंतर पुष्करार्ध संबंधी जानकारी प्राप्त करनी है।

वायुविचार

इसमें मुख्यतया वायु के संचालन संबंधी तथा ओदनादि पदार्थों में कौन कौन से जीव हैं, तत्संबंधी वर्णन है। ये प्रश्नोत्तर राजगृह में हुए हैं। सार यह है :—

वायु, थोड़ा आर्द्र, थोड़ा स्निग्ध और वनस्पति वगैरह हितकर ऐसा पथ्य वायु चलता है। वैसे ही महावायु भी चलता है। इसप्रकार का ईषत् पुरीवात, पथ्यवात, मंदवात और महावात। ये पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, अग्नि, नैऋत्य, और वायव्य कोन में हैं। यह वात पूर्व मे चलता है, तब पश्चिम में भी चलता है और उसीप्रकार दूसरी दिशाएं तथा कोनों की भी जानकारी प्राप्त करनी है।

ये वायु द्वीप और समुद्र में भी होते हैं। परंतु द्वीप का वायु चल रहा हो तब समुद्र का नहीं और जब समुद्र का चल रहा हो तब द्वीप का नहीं। इसका कारण यह है कि ये द्वीप

ओदनादि काय

अब ओदन, कुल्माष और मदिरा में कौन द्रव्य किस जीव के शरीर कहे जाते हैं, इसके संबंध में प्रश्न है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है।

ओदन और कुल्माष, इनमें जो कठिन पदार्थ है, वह पूर्वभाव प्रज्ञापना की अपेक्षा वनस्पति जीव के शरीर हैं। जब वह ओदन आदि द्रव्य शस्त्रों द्वारा कूटे जाते हैं, नये आकार में आते हैं, अग्नि से उनका वर्ण बदला जाता है, अग्नि द्वारा पूर्व भव के स्वभाव को छोड़ देते हैं, तब वह द्रव्य अग्नि का शरीर कहा जाता है। मदिरा में जो प्रवाही पदार्थ है, वह पूर्व भाव की अपेक्षा से पानी के जीव का शरीर है। जब वह प्रवाही भाग शस्त्र द्वारा कूटा जाता है, अग्नि द्वारा अलग रंग को धारण करता है, तब वह भाग अग्निकाय का शरीर कहा जाता है।

कहते है कि हवा चलती है। किन्तु पेड़ को हिलानेवाला वायु कहां से आता है ? इसका उत्तर भगवान् ने इसप्रकार दिया है –

"भवनपति देव के वायुकुमार और वायुकुमारिकाओ को जब अपने लिए दूसरो के लिए तथा दोनो के लिए वायु की उदीरणा करनी होती है, तब वायु चलता है।"

वायु एकेन्द्रिय जीव है उसका शरीर औदारिक है। उससे इस शरीर की स्वाभाविकी गति कही जाती है। और उत्तर अर्थात् वैक्रिय शरीर से गति करता है तब उत्तर वैक्रिय कहा जाता है।

है। [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] प्रयोजन बिना मन्द मनुष्य भी प्रवृत्ति नहीं करता है। तो फिर [illegible] ज्ञानियो की इस प्रवृत्ति के लिए [illegible] आशय [illegible] बुद्धि गम्य भी प्रश्न किया और जवाब दिया। इसलिए सबसे पहले जानना चाहिए कि समवसरण में सब जीव एक समान नहीं होते है। [illegible] जैसे अलग अलग कर्म होते है उसीप्रकार किसी जीव को ज्ञानावरणीय कर्म अधिक होते है तो दूसरे को मोहनीय कर्म की सीमा अधिक होती है। तब तीसरे को वेदनीय कर्म अधिक होता है, और चौथे को अन्तराय कर्म अधिक होता है। इससे एक जीव को किसी बात समझने मे देर लगती है। दूसरे के आचरण करने मे देर लगती है। तीसरा वेदनीयवश आचरण नही कर सकता। और चौथे को अन्तराय की बाधा होती है। इसलिए प्रश्न सुगम होते हुए भी पूछे हुए प्रश्न का उत्तर भगवान उसीप्रकार देते है। समवसरण मे प्राय करके अपुनर्बन्धक जीव और भव्य जीव ही अथवा इस अवस्था को प्राप्त करने की तैय्यारी वाले जीव ही खास करके आते है। जो व्रतो को ग्रहण करके पालन करके और आराधना करके मोक्षोन्मुख बनते है। फिर भी परिग्रह की मात्रा जीव मात्र को अपनी तरफ आकर्षित करती है। तथा व्रतधारी बनने पर भी प्रकारान्तर मे परिग्रह संग्रह करने के लिए ललचाते है।

परिग्रह मात्र द्रव्य से जीव हिंसा है। जो आत्मपरिणामो मे भाव-हिसा को उत्तेजित किये विना नही रहते है। क्योंकि पदार्थ मात्र की उत्पत्ति मे जीवहिंसा रहती है।

उसका प्रमाण करना आवश्यक है। क्योंकि परिग्रह में जो दोष हैं उनका विवरण निम्नानुसार है —

१) परिग्रह शान्ति, समाधि और समता भाव का कट्टर शत्रु है।

२) धैर्य वृत्ति का नाश करने के लिए परिग्रह मुख्य कारण है। क्योंकि धैर्य वृत्ति के बिना महाव्रतों का तथा अणुव्रतों का पालन करना असंभव है।

३) मोह कर्म को विश्रान्ति मिलने का स्थान परिग्रह है।

४) अठारह पाप और पाप के भावों को उत्तेजना देनेवाला परिग्रह है।

५) आधि–व्याधि और उपाधि का सहचारी परिग्रह है।

६) आर्तध्यान और रौद्रध्यान परिग्रह के आभारी है।

७) मानसिक जीवन मे चचलता की वृद्धि करनेवाला यह परिग्रह है। क्योंकि परिग्रह कामोत्पादक है और कामदेव का नाश किये बिना चचलता नही मिटती है।

८) अहकार की मात्रा को बढानेवाला परिग्रह है।

९) शोक सताप का मूलकारण परिग्रह है।

१०) क्लेश, कलह, शत्रुता और मारकाट आदि दोषोका उत्पादक परिग्रह है।

११) त्यागियो को सपूर्ण प्रकार से छोड़ने लायक है बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रह है।

इस के अनुसार हम समझ सकते है कि महावीर स्वामी का "निष्परिग्रही धर्म" किस लिए और कितना उपयुक्त है।

अब महावीर स्वामी के अनुयायी गृहस्थाश्रमियो के लिए भी विचारणीय है "गृहे तिष्ठतीति गृहस्थ गृहणी गृह मुच्यते" अर्थात् धर्मपत्नी का

[illegible] है। [illegible] होने के कारण [illegible] होता है। [illegible]
[illegible] है।

[illegible] जाता है, वह अधिक नरम होता है।

बछड़े का चमड़ा उससे भी अधिक नरम होता है। और गर्भस्थ बछड़े का चमड़ा सबसे अधिक नरम होता है। [illegible] इस चमड़े का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। जो महाहिंसा तथा निर्दय परिणामो का उत्पादक है। वीतराग परमात्मा की पूजा करनेवाले, सोने चादी के वरक मे (पन्नो मे) प्रभु के अग की सजावट आदि, सामायिक, प्रतिक्रमण करने वाले भाग्यशालि पुरुष किसी काम मे उन पदार्थो का उपयोग न करे।

रेशमी वस्त्र त्याज्य –

इसी प्रकार गृहस्थ के लिए वस्त्र का परिधान अनिवार्य है। फिर भी रेशम का वस्त्र सर्वथा त्याज्य इसलिए है कि वह वस्त्र त्रस जीवो की हत्या विना तैयार नही होता है। जबकि सूती वस्त्रो के तैयार करने मे एकेन्द्रिय जीवो का उपयोग होता है। गृहस्थ मात्र के लिए एकेन्द्रिय (स्थावर) जीवो की हत्या न होना, सभव नही है क्योकि प्रत्येक स्थिति मे गृहस्थाश्रम को सुचारू रूप से चलाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है। जबकि त्रस जीवो की हत्या करके बना हुआ रेशमी वस्त्र इसलिए त्याज्य है कि त्रस जीवो का नाश करने के पश्चात् बना हुआ रेशमी वस्त्र निध्वंस परिमाणो को करनेवाला है। तथा धीरे धीरे आत्मा को भी कठोर तथा निर्दयी बनाता है। पूजा के लिए बनी हुई स्नान विधी भी जब अहिसक और निर्दोष बताई गई है तब फिर त्रस जीवो की हत्या से बने हुए वस्त्रो का परिधान जैनाचार्यो को सम्मत नही हो सकता।

लवण समुद्र का विष्कंभ

लवण समुद्र का चक्रवाल विष्कंभ दो लाख योजन है। इसका घेराव पंद्रह लाख, इक्यासी हजार, एक सौ उनचालीस योजन से कुछ अधिक है। ✱ ५८

✱ ५८ लवण समुद्र का आकार गोतीर्थ, नौका, सीप का संपुट या अश्वस्कंध जैसा है। इसका चक्रवाल विष्कंभ दो लाख योजन का है। पन्द्रह लाख, इक्यासी हजार और एक सौ उनचालीस योजन उपरान्त थोड़ा ज्यादा अधिक कम परिक्षेप है। एक हजार योजन उद्वेध है और सोलह हजार योजन उत्सेध है। सत्तर हजार योजन सर्वाग्र है। इतना महान् लवण समुद्र जम्बूद्वीप को क्यों नहीं डुबा देता है? अर्थात् ज्वार के कारण से जम्बू द्वीप को भी प्लावित कर डालने के लिए समर्थ होते हुए उपद्रव किस लिए नहीं करता है?

अरिहंतो का प्रभाव –

इसके उत्तर में भगवान ने फरमाया है कि इस द्वीप में आये हुए भरत और ऐरवत क्षेत्रों मे अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारणमुनि विद्याधर, श्रमण, श्रमणियें, श्रावक श्राविकाए और धार्मिकवृत्ति वाले मनुष्य रहते है। जो स्वभाव से भद्र, विनीत और उपशान्त होते है। उनके क्रोध कषाय मन्द होते हैं। जो सरल और कोमल होते हैं। तथा जीतेन्द्रिय, भद्र और नम्र होते है। ऐसे महापुरुषो के प्रभाव से लवण समुद्र इस द्वीप को डुबाता नही हैं।

(जीवाभिगमसूत्र पृष्ठ – ३२८)

जीव मात्र को यथायोग्य, अनंत दुख से परिपूर्ण संसार मे

नहीं है। यदि मानव [illegible]
[illegible]
[illegible]
आयुष्य कर्म बांधने के पश्चात् मरता है।

"यमराज मृत्यु के समय आता है, और जीवात्मा को पकड़ कर जीव द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार दूसरी योनि में छोड़ देता है।"

जैन शासन उपरोक्त बात को इसलिए मान्य नहीं करता है, जिसका कारण निम्नानुसार है —

आयुष्य कर्म ही भवान्तर का कारण है जीव स्वयं ही आत्मशक्ति का मालिक होने से अपने किये गये कर्मों के अनुसार स्वयं ही भवभवान्तर करने मे समर्थ होता है।

तीव्रतम शुभाशुभ लेश्याओं मे प्रवर्तमान जीव जिन भावों मे रहता है उस भावना के अनुसार आगामी भव निश्चित होता है, और कर्मराज की वेडियो मे जकडा हुआ जीव उस भव मे जाता है। अर्थात् आगामी भव की प्राप्ति के लिए इस वर्तमान भव मे ही आयुष्य कर्म बाधना आवश्यक है। तथा मृत्यु के पश्चात् वही जन्म लेना पडता है। तथा शुभाशुभ कर्म भोगने ही पडते है। मोक्ष अवस्था प्राप्त करने की काल लब्धि और खुद के सबल पुरुषार्थ से प्राप्त की गई भाव लब्धि जब तक इस जीवात्मा को प्राप्त नही होती है तब तक अनेक चिकने, चिरस्थितिवाले और कटु, कटुतर और कटुतम रस से पूर्ण कर्मों को बाधते हैं। और भवान्तर में भुगतने हैं।

उदाहरण स्वरूप तुले हुए चार शेर नीब के रस मे जो कटुता होती है उसकी अपेक्षा इस चार शेर रस को चूल्हे पर रख कर जब उबलता हुआ - शेर रस शेर रस शेप रह जावें तब उसमे कटुता की वृद्धि होती है।

केवली को नींद होती है ?

छद्मस्थ मनुष्य सोता खड़ा भी नींद लेता है और वह जिस प्रकार नींद लेता है उसके अनुसार केवली नींद नहीं लेता है। क्योंकि छद्मस्थ तो दर्शनावरणीय कर्म के उदय से नींद लेता है किन्तु केवली तो कर्म के अभाव से नहीं लेता है।

नींद लेता हुआ या खड़ा खड़ा ऊंघता हुआ जीव सात या आठ कर्म बांधता है। ※ ६२

तब केवल ज्ञान होता है। अतः उनको जीवन मे कुतूहल, राग, मोह, काम और द्वेष लेश मात्र भी नही होता है।

हम छद्मस्थ को भी इस छद्मभाव को दूर करने की ही भावना रखनी चाहिए और उसके लिए ही प्रयत्नशील रहना चाहिए। यही श्रेयस्कर है।

※ ६२ नीद आने का मूल कारण दर्शनावरणीय कर्म होता है। दर्शनावरणीय कर्म की उपार्जना तब होती है जबकि गत भव में मोहवश मूढ बनी हुई आत्मा दूसरे जीव की दर्शन शक्ति का, दर्शन के साधनो का अन्तराय, निन्हव, मात्सर्य, आसादन और उपघात करते हैं। इसी कारण से इस भव मे उस साधक को चक्षु · अचक्षु अवधि तथा केवल दर्शन मे कमी रहती है। और सामान्य ज्ञान प्राप्त करने मे भी चक्षु तथा मन सहित दूसरी इन्द्रियो मे पदार्थ ज्ञान के प्रति कमजोरी रहती है।

दर्शनावरणीय कर्म के कारण ये पाच प्रकृतिया होती हैं - (१) निद्रा, (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला, (४) प्रचला प्रचला और (५) स्त्यानर्धि जो आत्मा के लिए सर्वघातीरूप काम करती है। अर्थात् आत्मा की मूल शक्ति पर आवरण ला देती है जब इस जीव को सुन्दर काम करने का

"भगवान का गर्भापहरण"

गर्भ का संहरण करने वाला, एक के उदर में से दूसरे के उदर में रखने वाला हरिणैगमेषी देव अपने हाथ से गर्भ को इस-प्रकार अन्दर लेता है। जिससे गर्भ को पीड़ा न हो, इस प्रकार योनि द्वारा बाहर निकालकर दूसरे गर्भाशय में रख दिया जाता है।

का शिक्षण नाममात्र भी नही है। आत्मतत्त्व को पहचानने में दूर रहता है। ईश्वर की अनंतशक्ति के प्रति भी जो बेदरकार है। संसार की मोहमाया मे पूर्ण आसक्त है। इसलिए खाना पीना और मौजशौक करने के अतिरिक्त इस जीवात्मा के पास दूसरा कोई भी व्यापार नही है। अत उस जीवात्मा के लिए निद्रादेवी ही एक 'आराध्या' है। ऐसे लोगो के मस्तिष्क मे जडता भरी रहता है, बुद्धि मे तामसिकता होती है। स्वभाव मे राजसिक वृत्ति होती है। दूसरो के सुख की परवाह नही करते हैं। अत ऐसे जीव देवदुर्लभ मनुष्य अवतार को भी पापमय बना देते हैं।

यद्यपि सम्यक्त्वधारी मनुष्य को निद्रा का सर्वथा अभाव नही होता है, फिर भी आत्मा मे जागृति होती है। नये तत्त्व को प्राप्त करने की भावना है, आध्यात्मिक जीवन को प्रेक्टीकल (व्यवहार) बनाने की लालसा तथा 'परोपकार, यही बडा स्वार्थ है' ऐसा समझकर वे भाग्यशाली शरीर की थकावट दूर करने हेतु उतनी मात्रा मे ही निंद लेवे तथा समय पर जागृत हो जावें। ऐसी नीद मे आत्मा जागृत रहेगी। अपने शरीर को सयम की मर्यादा मे रखेंगे। करवट बदलते समय अहिंसा की आराधना ध्यान मे रखेंगे। ऐसा अभ्यास करते करते ही केवल ज्ञान का मार्ग हस्तगत करने मे देरी नही लगेगी।

तीर्थंकर भगवान की आत्मा संसार के सम्पूर्ण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। इसलिए [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] क्षत्रिय वंश में ही जन्म लेते हैं। [illegible] [illegible] [illegible] लेकर अपना लक्ष्य सिद्ध करने के लिए क्षत्रियवंश [illegible] है।

ब्राह्मण तपोत्पन्न विज्ञान, [illegible] तथा पवित्र जाति में उत्पन्न [illegible], महातपस्वी हो सकता है। किन्तु केवल ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर होने की शक्ति उनके वंश में नहीं है। क्षात्र का बलिदान [illegible] दूसरी कोई भी तपश्चर्या सर्वार्थसिद्ध लक्ष्य को प्राप्त नहीं करा सकती।

उपरोक्त कारणवश तीर्थंकर क्षत्रिय वंश में ही जन्म लेते हैं। ऐसा होते हुए भी कर्मसत्ता अतीव बलीयसी होने के कारण कदाचित् क्षत्रियवंश को छोडकर तीर्थंकर दूसरे वंश में आते हैं किन्तु जन्म नहीं लेते हैं। इस कारण से इन्द्र महाराजा अपने दूत द्वारा भगवान महावीर स्वामी को परिवर्तित कराते हैं।

सतावीश भव की अपेक्षा तीसरे भव में भगवान के जीव ने मदवश बनकर हीन जाती का कर्म बाधा था। क्योंकि कर्मसत्ता सर्व जीवोपर एक सी होती है। जब **मरिचि को भरत चक्रवर्ती** ने वन्दना की और कहा, हे मरिचि, मैं तेरे परिव्राजक वेश को वन्दना नहीं करता हूँ किन्तु आप इस चौवीशी में अन्तिम तीर्थंकर बनोगे, वासुदेव बनोगे और चक्रवर्ती बनोगे।" आप इन अमुल्य तीन उपधियों के भोक्ताहैं। इसलिए मैं आपको वन्दन करता हूँ। यह बात सुनकर जातिमद तथा कुलमद की चरमसीमा को प्राप्त होने पर वहाँ हीन जाति का कर्म बधन होता है। इस कर्म के विपाक के कारण ही महावीरस्वामी को अन्तिम भव में थोडे समय के लिए ही हीनजाति में आना पडता है। किन्तु उन सब कर्मों का नाश हो जाने

अतिमुक्तक

ये भगवान के शिष्य बन गये। ये कुमार श्रमण थे। एक समय की बात है कि ये हाथ में पात्रा तथा बगल में ओघा लेकर बाहर गये। बहते हुए पानी का छोटा (गर्त) गड्ढा दिखलाई पड़ा। उन्होंने उक्त खड्डे पर एक मिट्टी की पाल (छोटी दीवार) बनाकर उसपर पात्रा रख दिया। यह "मेरी नाव है।" यह मानकर उसी मे मशगूल होकर रमण करने लगे। स्थविरों ने इस बाल चेष्टा को देखी और उन्होंने भगवान से पूछा, "कितने भव करने के बाद अतिमुक्तक सिद्ध बनेंगे?"

भगवान ने उत्तर दिया, यह भव पूरा करने के बाद ही सिद्ध बनेंगे। इसलिए आप में से कोई उनकी निंदा मत करना, उनकी

मुनिसुव्रतस्वामी से नमिनाथ	६ लाख वर्ष
नमिनाथ से नेमिनाथ	५ लाख वर्ष
नेमिनाथ से पार्श्वनाथ	८३ हजार वर्ष
पार्श्वनाथ से महावीरस्वामी	२५० वर्ष

(लब्धिसूरी ग्रन्थ माला पुष्प - १५)

उपरोक्तानुसार इतना लम्बा काल पूरा हो जाने पर भी २० कोडा कोडी सागरोपम की स्थितिवाला गोत्र कर्म सत्तावीशवें भव मे उदय होता है, और सपूर्ण रीति से क्षीण होने की तैयारी मे था, इसलिए भगवान महावीरस्वामी का गर्भ परिवर्तन भगवतीसूत्र, आचारागसूत्र, कल्पसूत्र तथा त्रिषष्टिशलाका पुरुप चरित्र को मान्य है।

देव के मौन प्रश्नोत्तर

एक समय की बात है कि महाशुक्र नामक देवलोक से बड़े ऋद्धिवाले दो देव भगवान की सेवा मे प्रादुर्भूत हुए। उन्होंने मन से ही भगवान को वन्दन-नमन आदि किया तथा मन से ही प्रश्न किया कि आपके कितने शिष्य सिद्ध होंगे?

भगवान भी नहीं बोले और मन से ही जवाब दिया, 'सात सौ शिष्य सिद्ध बनेंगे।'

यह उत्तर सुनकर देवताओं को बड़ी खुशी हुई। और पर्युपासना करने लगे।

इन्द्रभूति गोतम को यह शंका हुई कि ये देव किस कल्प से आये हैं? यह मैं नही जानता हूँ। किस विमान से आये हैं और किसलिये आये हैं? कोई खबर नहीं हुई। महावीर ने गौतम को यह सकल्प कह दिया। और बताया कि देव ही तेरा खुलास करेंगे।

से पश्चात्ताप पूर्वक 'इरियावही .... ' सूत्र के परिशीलन मे अपनी भूलोको पश्चातापकरके उन्होने सपूर्ण कर्मों का नाश कर वही केवल ज्ञान को प्राप्त किया। महावीर स्वामी से निर्णय मिलने के पश्चात् स्थाविर मुनियो द्वार वारवार याद दिलाया गया कि भविष्य मे किसी मुनि की अवहेलना नही करना। इसके अनुसार वे वृद्धमुनि निश्चय करते है। मुनिधर्म स्वीकार करने के वाद किस समय मे कुलीन मुनि भी पुन सावधान हो जायगा? इस सवध मे कुछ नही कहा जा सकता। अत तात्कालिक दूपण देखकर किसी भी समय उसकी निन्दा करने मे भाग नही लेना चाहिए। यही इस प्रश्न का सरलार्थ है।

स्थानकों मे जितने दोष होंगे उतने ही सैकाचिक भाव जागेंगे और प्रज्वलितता से भी समाज को हानि हुए बिना नही रहेगी। महावीर स्वामी गुरु थे और गौतम स्वामी शिष्य थे। दोनो निस्पृही तथा मोक्षगमन की तत्परतावाले थे। अत गुरु शिष्य की जोडी ने ससार को अलकृत किया है। गुरु और शिष्य दोनो को एक दूसरे की आवश्यकता है बिना समाज को उनसे लाभ नही मिलेगा बल्कि दोनो के क्लेशो से समाज और ससार को भयकर हानि पहुँचेगी, ऐसी सभावना है।

मुनियो के सयम धर्म से देवो के विमान और समुद्र की मर्यादा स्थिर रहती है। तो मुनिराजो के सघर्षमय जीवन से ससार मे "अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जानमाल की हानि तथा रोग शोक की वृद्धि होती है। तथा राजाओ तथा राज्यकर्ताओ मे वैर विरोध भडकता है। परिणाम स्वरूप देश को भयकर हानि हुए बिना नही रहती है। देश की हानि से समाज को भी हानि पहुँचती है। समाज की हानि अर्थात् सामाजिक जीवन मे वैर–विरोध तथा क्लेश से जैन धर्म को भयकर नुकसान हुआ है, होता है, और भविष्य मे भी होगा। उस क्षति की पूर्ति शताब्दियो बीत जाने पर भी नही होगी।

" चिरजीयात् चिरजीयात् देशोऽय धर्मरक्षणात् "

यह शिलालेख साक्षी देता है कि धर्म की रक्षा से यह भारत देश चिरकालपर्यन्त आबाद और आजाद (समृद्धिशाली और स्वतत्र बना रहे)

धर्म किसे कहते हैं ? और धार्मिक कौन है ?
धार्मिकता और सांप्रदायिकता

" धर्म चरतीति धार्मिक "

अर्थात् अहिंसा, सयम और तपोधर्म का आचरण जो करता है वह ... है। ऐसे धर्म मे आत्मा का आनदरूपी सागर उमडत है, वहाँ दु ख

अथवा स्वयबुद्ध के श्रावक, श्राविका, उपासक या उपासिका से सुनकर जानते है और देखते है। ※ ६७

शेष शब्द अन्य भाषा के होते है। इस मिश्रित भाषा को अर्धमागधी भाषा कहते है।

(६) अपभ्रश भाषा—प्राकृत भाषा से बिगडी हुई भाषा अपभ्रश भाषा है। देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी ने अर्धमागधी भाषा मे ही देशना दी है, अत देवता भी यह भाषा बोलते है।

※ ६७ क्या यह व्यक्ति 'अतकर' होगा ?" छद्मस्थ मनुष्य केवली भगवान् से यह बात मालूम कर सकते हैं। क्योकि छद्मस्थ पुरुष चाहे जितना विद्वान हो, सूत्रकार हो, टीकाकार तथा भाष्यकार हो तो भी पूर्ण ज्ञानी नही होता है। जैसे उदाहरण स्वरूप हीरे पर जबतक थोडा बहुत मेल शेष रह जाता है तब तक उसमे चमक नही है। दूसरा एक और उदाहरण है कि जब तक सूर्य के ऊपर बहुत बादलो का आवरण शेष रह जाता है तब तक वहाँ प्रकाश पूरा नही फैलता है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म भले थोडा ही शेष रह गया हो फिरभी वह व्यक्ति पूर्ण ज्ञानी नही हो जाता है। इसीलिए वह छद्मस्थ ही होता है।

केवल ज्ञान की प्रप्ति होते ही आँखो पर बधी हुई पट्टी के समान ज्ञानावरणीय कर्म सपूर्ण और समूल नष्ट हो जाता है। जिससे केवल ज्ञानी भगवान् सपूर्ण पदर्थों को प्रत्यक्ष कर सकते है। छद्मस्थ केवली से सुनकर जान लेता है कि यह व्यक्ति अतिम शरीरवाला है।

सकते हैं जो मोक्ष प्राप्ति रूप पुरुषार्थ को देने मे असमर्थ है।

इन सब बातो को ध्यान मे रखकर जैनागम ही सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानता है, क्योकि वह यथार्थज्ञान है। इसीप्रकार (ऐसे ही) स्व तथा पर का निर्णय करने मे पूर्ण समर्थ है।

स्व यानी अपना और पर यानी पर पदार्थों के साथ ससार भरके प्रत्येक पदार्थ का निर्णय करने के लिए सम्यग्ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है।

पदार्थ मे रहे हुए (स्थित) भिन्न भिन्न आकार–नाम–गुण आदि विशेष प्रकार जिससे जाने जाते हैं उसको ज्ञान कहते है। और वही प्रमाण है। जबकि वही पदार्थ नाम जाति गुण रहित केवल सामान्य प्रकार से जाना जाता है, वह दर्शन है। यद्यपि जैन सूत्र मान्य यह दर्शन है तो भी अप्रमाण है। लक्षण सूत्र अकेले ज्ञान को ही प्रमाण नही मानते हैं। किन्तु सम्यग् यथार्थ–अथवा स्वपर व्यवसायी विशेष से विशेषित ज्ञान को प्रमाण मानते है, यद्यपि सशय, विपरीत और अनध्यवसाय ज्ञान है, फिर भी यह ज्ञान पदार्थ का सत्य निर्णय करा नही सकता। प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप नियत होता है। गुण और पर्याय नियत होते हैं। इसलिए गुण बिना का द्रव्य और द्रव्य बिना का पर्याय किसी भी काल मे नही हो सकता।

तब सशयज्ञान से पदार्थ का निर्णय नही होता है। जैसे–अधकार मे रही हुई 'रस्सी' या तो यह रस्सी ही है अथवा सर्प ही है। फिर भी यह ज्ञान निर्णय नही देता है कि यह रस्सी है या सर्प है और हमेशा के लिए यह सशय बना रहता है। 'सशयात्मा विनश्यति' इस न्याय से सपूर्ण जीवन सशय मे ही खत्म हो जाता है। सशयज्ञान मे यह, शक्ति नही है कि जीवन मे थोडा भी निर्णय करा सके, इसलिए वह प्रामाणिक नही है।

जब सम्यग्ज्ञान पदार्थ मे रही हुई 'कोटी' को स्पष्ट रूप से स्पर्श करता है और इसीके अनुसार एक ही मनुष्य मे अपने पुत्र को लेकर

इत्यादिक संशय ज्ञान होने के कारण पदार्थ एक कोटि का भी निर्णय नही किया जा सकता है ।

जब विपरीत ज्ञान मिथ्यात्व मोह तथा पूर्वग्रह को लेकर होता है और अनध्यवसाय ज्ञान इन्द्रियो की पटुता को तथा लब्धिभावेन्द्रिय के क्षयोपक्षम के अभाव मे होती है । इसलिए पदार्थ का ज्ञान नही करवाने के कारण सशयादि प्रमाण नहीं हो सकते इसमे सम्यग् यथार्थ और स्वपरव्यवसायी विशेषण सार्थक है ।

आत्मा के सब गुणो मे सूर्य के समान स्वपर प्रकाशक गुण कोई है तो ज्ञान गुण ही है जो खुद को तो प्रकाशित करता ही है किन्तु ससार के सब द्रव्य और पर्यायो को भी प्रकाशित करता है । अतएव जैन दर्शनकारो ने सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण के तौर पर स्वीकार किया है । पौद्गलिक पदार्थ कोई भी ऐसा नही है जो स्वपर प्रकाशक हो । हमारे शरीर के साथ लगी हुई आँख मे तेज का अभाव भी हो सकता है अथवा मोतीबिंदु और पीलिया आदि रोग लग जाने के कारण चक्षुज्ञान बराबर नही हो सकता । अतः चक्षु स्वत जड होने के कारण किसी पदार्थ का ज्ञान कराने मे समर्थ नही है ।

आत्मा के उपयोग से चक्षु के द्वारा प्राप्त ज्ञान भी अमुक कारणो को लेकर चक्षु जब नष्ट हो जाती है तब भी पहले का चक्षु ज्ञान आत्मा मे स्मरण होता रहता है, जो अनुभव गम्य है । अत. ज्ञान मे आत्मा का उपयोग ही मुख्य कारण है । किन्तु चक्षु आदि इन्द्रियाँ नही । यह निश्चित है कि पदार्थ के परिज्ञान मे अनत शक्ति का स्वामी और चैतन्य गुण विशिष्ट आत्मा खुद चक्षु की प्रेरक बन जाती है । तब ही चक्षु रूप को ग्रहण करने मे, कान सुनने मे, जिह्वा स्वाद लेने मे, नाक सूघने मे और स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श करने मे समर्थ बनेती है ।

जैसे मकान मे झरोखे (खिडकिया) होते है, उनके द्वारा

इत्यादिक सशय ज्ञान होने के कारण पदार्थ एक कोटि का भी निर्णय नही किया जा सकता है ।

जब विपरीत ज्ञान मिथ्यात्व मोह तथा पूर्वग्रह को लेकर होता है और अनध्यवसाय ज्ञान इन्द्रियो की पटुता की तथा लब्धिभावेन्द्रिय के क्षयोपशम के अभाव मे होती है। इसलिए पदार्थ का ज्ञान नही करवाने के कारण सशयादि प्रमाण नही हो सकते इसमे सम्यग् यथार्थ और स्वपरव्यवसायी विशेषण सार्थक है ।

आत्मा के सब गुणो मे सूर्य के समान स्वपर प्रकाशक गुण कोई है तो ज्ञान गुण ही है जो खुद को तो प्रकाशित करता ही है किन्तु ससार के सब द्रव्य और पर्यायो को भी प्रकाशित करता है । अतएव जैन दर्शनकारो ने सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण के तौर पर स्वीकार किया है। पौद्गलिक पदार्थ कोई भी ऐसा नही है जो स्वपर प्रकाशक हो । हमारे शरीर के साथ लगी हुई आँख म तेज का अभाव भी हो सकता है अथवा मोतीयिंदु और पीलिया आदि रोग लग जाने के कारण चक्षुज्ञान बराबर नही हो सकता । अतः चक्षु स्वत जड होने के कारण किसी पदार्थ का ज्ञान कराने मे समर्थ नही है ।

आत्मा के उपयोग से चक्षु के द्वारा प्राप्त ज्ञान भी अमुक कारणो को लेकर चक्षु जब नष्ट हो जाती है तब भी पहले का चक्षु ज्ञान आत्मा मे स्मरण होता रहता है, जो अनुभव गम्य है। अत ज्ञान मे आत्मा का उपयोग ही मुख्य कारण है । किन्तु चक्षु आदि इन्द्रियाँ नही । यह निश्चित है कि पदार्थ के परिज्ञान मे अनत शक्ति का स्वामी और चैतन्य गुण विशिष्ट आत्मा खुद चक्षु की प्रेरक बन जाती है। तब ही चक्षु रूप को ग्रहण करने मे, कान सुनने मे, जिह्वा स्वाद लेने मे, नाक सूघने मे और स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श करने मे समर्थ बनती है।

जैसे मकान मे झरोखे (खिडकिया) होते है, उनके द्वारा

पदार्थ दृष्टिगोचर होते है वे ज्ञान के ही आकार विशेष है ।

उपरोक्त मान्यता से प्रत्यक्ष रूप दृष्टिगोचर होता हुआ, अनुभव कराता हुआ, स्पर्शीभूत होता हुआ, सुनाई देता हुआ और उनके द्वारा प्राप्त हुआ आनन्द–अनुभव अकिंचित्कर ही सिद्ध होगा । व्यवहार मे प्रत्येक मनुष्य को इसप्रकार अनुभव होता है कि " मै हूं, मेरा शरीर है, मेरे आँख हैं, नाक है, कान है, भूख लगती है, भोजन करता हूं, प्यास लगती है, पानी पीता हूं, विषय वासना होती है, स्त्री–सहवास करता हूं उससे आनद अनुभव करता हूं, स्त्री को गर्भ रहता है, फिर बड़ा होता है, बच्चा जन्मता है, समयपर उसका विवाह होता है, उसके भी सतान होती हैं " इस सब अनुभव को गलत कैसे किया जा सकता है ? इसलिए पर पदार्थ शशशृंग की तरह असत् नही है । किन्तु सर्वथा विद्यमान है । इस कारण से सम्यग ज्ञान खुद के स्वरूप को प्रकाशित करता है । उसीप्रकार ससार के पदार्थ मात्र को भी यथार्थ रूप मे प्रकाशित करता है ।

जो इसप्रकार मानता है उससे हमारा प्रश्न यह है कि ' चक्षुस्सयुक्तो घट ', इसके अनुसार चक्षु और घडे का सबध होने पर घड़े का ज्ञान कहाँ से आ गया ? समवाय सबध से ? अर्थात् यह घडा है। इसका ज्ञान समवाय के कारण से होता है । किन्तु यह मान्यता प्रत्यक्ष से बाधित है । जैसे आंख खुली और घडा देखा, तब तुरत ही घडे का ज्ञान होता है । इसमे समवाय कहाँ से आया ? अत यह सब दुस्तरा अनवस्था दोष की नदी सामने आती है । जैसे चक्षु सयोग से घडा दृष्टिगोचर हुआ, तब आप घडे मे ' घटत्व ' को समवाय सबध से सिद्ध करने की कोशिश करोगे तो फिर ' घटत्व ' को सिद्ध किसप्रकार करोगे ? यह सिहनी (शेरणी) के जैसी अववस्था आपको किसी प्रकार विश्राम नही करने देगी । जब घडे मे स्वत ऐसी शक्ति है कि खुद ही अपना ' घटत्व ' रूप सामान्य का और ' लाल रग ' वगैरे विशेष का बोध कराता है । जो सबको अनुभव गम्य है । उसीप्रकार ज्ञान आत्मा का ही गुण बनकर अनादिकालीन है । सूर्य

हो जाता है। तत्पश्चात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म के आवरणो को विच्छेद करने पर केवल ज्ञान होता है।

जिनको केवल ज्ञान होता है, वे अर्हन्, सर्वज्ञ और वीतराग कहलाते है। ये अरिहत भगवान ही सर्वथा निर्दोष होते हैं। उनका वचन प्रमाणाबाधित होता है। इस केवल ज्ञान को कवलाहार से साथ विरोध नही है। क्योकि जब हम खाते है तब ही हमारा ज्ञान स्फुरायमान रहता है तो फिर केवल ज्ञान को कवलाहार के साथ किसलिए विरोध हो?

इसप्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण की बात करने के पश्चात् अब आगम प्रमाण के लिए भी विचार करते हैं। यथार्थ वक्ता यानी जो वस्तु जिस प्रकार की है उसको उसीप्रकार कहनेवाला व्यक्ति रागद्वेष से सपूर्ण मुक्त होता है।

राग–द्वेष–हिसा और असत्य का पालन करनेवाले तथा अपनी धर्मपत्नी के साथ रहनेवाले वानप्रस्थाश्रमी, जो स्नान आदि करते हैं तथा पुष्पो की माला पहन कर मस्त रहनेवाले योगी हैं, वे हिसा मे लिप्त होने से मोहकर्मी हैं। जहाँ मोहकर्म हैं वहाँ यथार्थ वक्तृत्व सभव नही है। अत सत्ध्यानरूपी पवन से उत्तेजित हुई तपश्चर्या रूपी अग्नि मे मोह कर्म जल जाने के पश्चात् केवल ज्ञान होता है। उनके मालिक अरिहत देव ही यथार्थ वक्ता हो सकते हैं। अतः उनके वचन 'आगम' कहलाते हैं। जो प्रमाणभूत है। जिससे मनुष्य मात्र को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। अत एव उपचार से आप्त वचन ही आगम कहे जाते है। कथनीय वस्तु की यथार्थता को समझना और तदनुसार कहना, उसे ही आप्त कहते है और उनका वचन ही अविसवादी होता है। क्योकि उनके वचनो मे कही पर भी रागद्वेष नही होता है। विसवाद नही है, केवल जीव मात्र कर्मबधन से मुक्त हो जाय तथा मोक्ष अवस्था को प्राप्त करे, यही एक तथ्य है।

अर्थ की अपेक्षासे तीर्थंकरों को आत्मागम होता है। गणधरों को अनन्तरागम होता है।

गणधर के शिष्यों को परम्परागम होता है।

सूत्र की अपेक्षा गणधरों को आत्मागम होता है।

गणधर के शिष्यों को अनन्तरागम होता है और उनके शिष्यों को पपरागमन होता है।

अब अनुमान और उपमान प्रमाण भी अनुयोगद्वारसूत्रसे जान लेना।

॥ चौथा उद्देशा समाप्त ॥

रहे हुए केवली के साथ आलाप - संलाप करने के लिए समर्थ हैं। क्योंकि यहाँ के निवासी केवली वहाँ के निवासी अनुत्तर विमान के देव जो अर्थ और हेतु आदि प्रश्न पूछते हैं उनका उत्तर देते हैं। और यहाँ से दिये गये उत्तर को वहाँ के निवासी देव जानते हैं और देखते हैं। क्योंकि अनुत्तर विमान के देव उपशांत मोहवाले हैं। उदीर्ण मोहवाले या क्षीण मोहवाले नहीं।

केवली इन्द्रियों द्वारा न जानते हैं और न देखते हैं। क्योंकि केवली मित भी जानते हैं और अमित भी जानते हैं। क्योंकि वे दर्शन आवरण रहित हैं।

केवली को वीर्य प्रधान योग वायु जीवद्रव्य होने से उनके हाथ पैर आदि अंग चल होते हैं। और उससे चालु समय में जिस आकाश प्रदेशों में हाथ का अवगाह रहते हैं।

यही आकाश प्रदेशों में भविष्यत् क्षय के समय मे हाथ पैर आदि अवगाही नहीं रहते हैं।

चौदह पूर्व को जाननेवाले श्रुत केवली एक घडे में से हजार घडों को, एक पट मे से हजार पट को, एक चटाई मे से हजार चटाईयों को, एक रथ मे से हजार रथ को, एक छत्र में से हजार छत्र को और एक दंड मे से हजार दंड को करके बताने में समर्थ हैं। क्योंकि चौदहपूर्वी उत्करिका भेद से विद्यमान अनंतद्रव्य ग्रहण योग्य किये हैं ※ ६९

※ ६९ केवली भगवान चरम कर्म और चरम निर्जरा को जानते हैं।

कर्म, वेदना और कुलकर

इस उद्देशक में कर्म और वेदना तथा कुलकरों की संख्या का विषय है। सारांश यह है कि:—

कई लोग ऐसा कहते हैं कि-सर्व प्राण, भूत, जीव, सत्व-इन्होंने जैसा कर्म बंधन किया है, उसीके अनुसार वेदना का अनुभव करते हैं। भगवान महावीर स्वामी इस कथन को सही नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि कई, प्राण, भूत, जीव और सत्व एवभूत अपने कर्मों के अनुसार वेदना का अनुभव करते हैं और कई प्राण, भूत, जीव, सत्व अनेवंभूत जैसे कर्मबन्धन है, उससे पृथक् वेदना का अनुभव करते हैं।

इसीप्रकार नैरयिक भी एवंभूत और अनेवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं ※ ७०

※ ७० चौदहपूर्वी ज्ञानियो की 'महानुभावता' श्रेष्ठतम ही है। फिर भी वे 'अकेले सयम से मोक्ष को प्राप्त नही कर सकते है। अत जो केवल ज्ञान को प्राप्त करेंगे वे मोक्ष मे जाएगें।

एवभूत आयुष्य कर्म जिसप्रकार से बाधा है, उसीके अनुसार भोगा जाता है, वे एवभूत आयुष्य कहे जाते हैं, और चिरकालपर्यन्त अनुभव करने योग्य बाधा हुआ आयुष्य थोडे समय मे भोगा जाता है, वह अनेवभूत आयुष्य कहलाता है। उसे अपमृत्यु के समय मे जानना, क्योकि कर्मों की स्थितिघात और रसघात शास्त्र को मान्य है।

महायुद्ध मे एक साथ हजारो आदमी मरते है, अन्यथा सब जीव एक साथ कैसे मर सकते है?

भानु, विश्वसेन सूर, सुदर्शन, कुम्भ, सुमित्र, विजय, समुद्रविजय, अश्वसेन, सिद्धार्थ राजा।

उनकी प्रथम शिष्याएं:—ब्राह्मी, फल्गु, श्यामा, अजिता, काश्यपी, रति, सोमा, सुमना, वारुणी, सुलसा, धारणी, धरणी, धरणिधरा, पद्माशिवा, शुची, अंजुका, रक्षी, बन्धुमती पुष्पवती, अमिला, अनिला, यक्षिणी, पुष्पचूला और चन्दन बाला

इनके प्रथम शिष्य—ऋषभसेन, सिंहसेन, चारु वज्रनाभ, चमर, सुव्रत, विदर्भ, दत्त, वराह, आनन्द गोस्तुभ, सुधर्म, मंदर, यश, अरिष्ट, चक्राभ स्वयम्भू, कुम्भ, इन्द्र, कुंभ, शुभ, वरदत्त, दत्त, इन्द्रभूति (गौतमस्वामी)

पेड का नाम जिसके नीचे बैठने पर केवल ज्ञान :—हुआ है उसको चैत्यवृक्ष कहते है, वड, सादड, शाल, प्रियाल प्रियगु, छत्रोघ, शिरीष, नागवृक्ष, माली, पीपल, तिंदुग, पाटल, जंबुडी, अश्वत्थ, दधिपर्ण, नंदीवृक्ष, तिलक, आम्र, अशोक, चंपक, वकुल, वेतस, धातकी, और शालवृक्ष।

जम्बूद्वीप मे भारत क्षेत्र मे आगामी चोवीसी के नाम :—महापद्म, शुरदेव, सुपार्श्व, स्वयप्रभ, सर्वानुभूति, देवश्रुत, उदय, पेढाल, पोट्टिल, शतकीर्ति, मुनिसुव्रत, सर्वभाववित्, अमम, निष्कषाय, निष्पुलाक, निर्मम, चित्रगुप्त, समाधि, सवर, अनिवृति, विजय, विमल, देवोपपात, अनतविजय।

गत चोवीसी के पूर्व भवीय नाम श्रेणिक, सुपार्श्व, उदय, पोट्टिल अनगार, दृढायु, कार्तिक, शख, नद, सुनद, शतक, देवकी, सत्यकी, वासुदेव वलदेव, रोहिणी, सुलसा, रेवती, शताली, भयाली, द्वैपायन, नारद, अबड, दारुमड, वृद्ध और स्वाति।

जम्बू द्वीप मे हुए बारह चक्रवर्तियो के नाम —भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, जयनरपति, ब्रह्मदत्त।

कौन से चक्रवर्ती कब हुए ?

१ भरत चक्रवर्ती : ऋषभदेव के शासन में हुए और मोक्ष गये।
२ सगर : अजितनाथ के शासन में हुए और मोक्ष गये।
३ मघवा : धर्मनाथ भगवान के निर्वाण के बाद हुए और तीसरे स्वर्ग में गये।
४ सनत्कुमार : शान्तिनाथ भगवान से पहले हुए हैं और तीसरे स्वर्ग में गये हैं।
५ शान्तिनाथ :
६ कुन्थुनाथ :
७ अरनाथ : ये तीनों तीर्थंकर इसी भव में प्रथम चक्रवर्ती और बाद में तीर्थंकर हुए हैं।
८ सुभूम : १८ और १९ वें भगवान के बीच में हुए और नरक गये हैं।
९ महापद्म : मुनि सुव्रत स्वामी के शासन में हुए और मोक्ष गये हैं।
१० हरिषेण : नमिनाथ के शासन में हुए और मोक्ष गये हैं।
११ जयनामा : २१ और २२ वें भगवान के बीच में हुए और मोक्ष गये हैं।
१२ ब्रह्मदत्त : २२ और २३ वे भगवान के बीच में हुए और नरक गये हैं।

अब वासुदेव, प्रतिवासुदेव कब हुए हैं ?

१ त्रिपृष्ठ वासुदेव : श्रेयांसनाथ भगवान के समय मे हुए और नरक मे गये हैं।
२ द्विपृष्ठ वासुदेव : वासुपूज्य स्वामी के शासन मे हुए और नरक गये।
३ स्वयंभू : विमलनाथ प्रभु के समय मे हुए और नरक गये

[illegible] और हुए। [illegible] ८ = [illegible] और हुए।

तीर्थंकरों के यक्ष, (शासन देव) अनुक्रम से गोमुख, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश, तुम्बर, कुसुमदत्त, मातंग, विजय, अजित, ब्रह्मा, मनुजेश्वर, कुमार यक्ष, षण्मुखयक्ष, पाताल यक्ष, किन्नर, गरुड, गन्धर्व, यक्षेन्द्र, कुबेर वरुण, भृकुटि, गोमेध, पार्श्व और मातंग हैं।

उनकी यक्षिणियाँ (शासन देवियाँ) अनुक्रम से :- चक्रेश्वरी, अजिता, दुरितारि, कालिका, महाकालि, अच्युता, शान्ता, ज्वाला, सुतारका, अशोका, श्रीवत्सा, चण्डा (प्रवरा), विजया, अंकुशा, प्रज्ञप्ति निर्वाणी, अच्युता, धरणी, वैरट्या, दत्ता, गान्धारी, अम्बिका, पद्मावती सिद्धायिका।

अब चौबीस तीर्थंकरों की राशि, तारा, नक्षत्र, नाडी, लाछन, गण योनि और वर्ग के सबध मे विचार करते है।

ये नीचे के कोष्ठक मे वर्णित है।

	तीर्थंकर	राशि	तारा	नाडी	नक्षत्र	लाछन	गण	योनि	वर्ग
१	ऋषभदेव	धन	३	३	उ. षाढा	वृषभ	मनुष्य	नकुल	गरुड
२	अजितनाथ	वृषभ	४	३	रोहिणी	हाथी	,,	सर्प	,,
३	सभव	मिथुन	५	२	मृगशीर्ष	घोडा	देव	,,	घेटा
४	अभिनदन	मिथुन	७	१	पुनर्वसु	वानर	,,	बिल्ली	गरुड
५	सुमति	सिंह	१	३	मघा	क्रौंच	राक्षस	चूहा	घेटा
६	पद्मप्रभु	कन्या	५	२	चित्रा	कमल	,,	व्याघ्र	चूहा
७	सुपार्श्व	तुला	७	३	विशाखा	स्वस्तिक	,,	,,	घेटा
८	चद्रप्रभ	वृश्चिक	८	२	अनुराधा	चन्द्र	देव	हिरण	सिंह

प्रतिमा की उपासना किया है, [illegible] मूर्ति, [illegible] और
देने के लिए भी [illegible]
और गांव की राशि, नाडी, वर्ग, [illegible]
कूल है या नहीं ? उसे देखने के लिए ज्योतिष शास्त्र रचा है। [illegible]
मे परन्तु यहा [illegible] भी [illegible] नही चाहिए। मनुष्य मात्र का यह
स्वभाव है कि जब दूसरे के साथ सम्बन्ध जोडता है तब उसके साथ की लेन-
देन का ख्याल अवश्य रखता है, चाहे वह वीतराग की मूर्ति हो, मुनीम हो,
पत्नी हो, मित्र हो, या व्यापार हो सबके साथ अपना आगे किस तरह और
कितनी मात्रा में मेल रहेगा ? इसीलिए ज्योतिष का सहारा लेना पडता
है। अब ये सभी बातें जैन ज्योतिष के अनुसार हम विचार लिखते हैं।

(१) योनि :-अलग-अलग नक्षत्रों की अलग-अलग योनि होती है। उसमे परस्पर वैर वाली योनि नही होनी चाहिए जैसेकि एक का नक्षत्र हाथी योनि का हो और दूसरे का सिंह योनि का हो तो परस्पर विरोध योनि होनेसे वे नक्षत्रो के मालिको को भी आपस मे वैर-विरोध न रहे ऐसा नही हो सकता।

हाथी-सिंह, घोडा-पाडा, बदर-घेटा, कुत्ता-हिरण, सांप-नेवला, गाय-वाघ, बिल्ली-चूहा, परस्पर जाति वैर वाले होनेसे आपस मे जैसे मिलाप नही होता वैसे वे नक्षत्रोवाले जीव को भी परस्पर मेल नही होता। मूर्ति भरानेवाले गृहस्थ का नक्षत्र चूहा योनिका और वीतराग भगवान का नक्षत्र बिल्ली योनि का हो तो समझ लेना कि मूर्ति भरानेवाले भाग्यशाली को मूर्ति से कुछ भी लेनदेन नही रहनेवाली है।

नक्षत्रों की योनी

भरणी और रेवति नक्षत्र की योनि हाथी है।
धनिष्ठा पूर्वाभाद्रपद की योनि सिंह है।

को सुख स्वप्न जैसे [illegible] नहीं है। माया वश में [illegible] पुनः पुनः कर्म [illegible] करता है, और पुनः पुनः उन्हें भुगतता है।

भगवती सूत्र में इसप्रकार का प्रश्न है।

जीव ऐसे कौन से कर्म करता है, जिससे आयुष्य की मर्यादा अल्प बन जाती है। यानी वह अल्प उम्र में ही मृत्यु का मेहमान बनता है।

अनन्त ज्ञान के स्वामी भगवान ने निम्नानुसार उत्तर दिया है :-

(१) जीव हिंसा करने से

(२) असत्य बोलने से

(३) श्रमण को अप्रासुक तथा अनेषणीय आहार पानी देने से।

जीवहिंसा -हिंस धातु से अन्य जीव को मारने के अर्थ में हिंसा, हिंस्र और हिंसक शब्द बनता है। यानी स्वयं को छोड़कर अन्य जीव को मारना, वह हिंसा, मारने के लिए पुरुषार्थ करना वह हिंस्र कर्म, और मारनेवाला हिंसक कहलाता है।

इसका विशाल अर्थ निम्नानुसार है :-

१ द्वेष वश अन्य के प्राणों का वध करनेवाला हिंसक।

२ द्वेष वश अन्यो की वृत्तियो को तोड़ने वाला हिंसक है।

३ द्वेष वश तथा राग वश स्वस्त्री के सिवाय अन्यस्त्री का सेवन करना, तथा उसके सतीत्व को भ्रष्ट करने वाला हिंसक है।

४ भोगासक्त होकर क्रूरतापूर्वक मैथुन कर्म का रागी हिंसक है, महाहिंसक है।

५ मैथुन कर्मासक्त होने से गर्भगत जीवो का ख्याल किये विना मैथुन करने का भाव रखना, यह भयंकर हिंसा है।

को सुख दुःख देनेवाले स्वय आप [illegible] कर्म या ईश्वर अन्य कोई नहीं है। माया वश में [illegible] आत्मा पुनः पुनः कर्म करता रहता है, और पुनः पुनः उन्हें भुगतता है।

भगवती सूत्र में इसप्रकार का प्रश्न है।

जीव कैसे कौन से कर्म करता है, जिससे आयुष्य की मर्यादा अल्प बन जाती है। यानी वह अल्प उम्र में ही मृत्यु का मेहमान बनता है।

अनन्त ज्ञान के स्वामी भगवान ने निम्नानुसार उत्तर दिया है :—

(१) जीव हिंसा करने से

(२) असत्य बोलने से

(३) श्रमण को अप्रासुक तथा अनेषणीय आहार पानी देने से।

जीवहिंसा —हिंस धातु से अन्य जीव को मारने के अर्थ में हिंसा, हिंस्र और हिंसक शब्द बनता है। यानी स्वय को छोड़कर अन्य जीव को मारना, वह हिंसा, मारने के लिए पुरुषार्थ करना यह हिंस्र कर्म, और मारनेवाला हिंसक कहलाता है।

इसका विशाल अर्थ निम्नानुसार है :—

१ द्वेष वश अन्य के प्राणो का वध करनेवाला हिंसक।

२ द्वेष वश अन्यो की वृत्तियो को तोडने वाला हिंसक है।

३ द्वेष वश तथा राग वश स्वस्त्री के सिवाय अन्यस्त्री का सेवन करना, तथा उसके सतीत्व को भ्रष्ट करने वाला हिंसक है।

४ भोगासक्त होकर क्रूरतापूर्वक मैथुन कर्म का रागी हिंसक है, महाहिंसक है।

५ मैथुन कर्मासक्त होने से गर्भगत जीवो का ख्याल किये विना मैथुन करने का भाव रखना, यह भयकर हिंसा है।

'एक तरफ ससार भर का पाप और दूसरी तरफ असत्य भाषण का पाप यदि इन दोनों की समानता करनी हो तो असत्य का पाप सबसे अधिक और प्रतिकार बिना का पाप है।'

इन सब बातो का ख्याल रखकर जिन शासन के स्वामी भगवान महावीर स्वामी ने कहा है कि असत्य बोलनेवाला अल्पायुषी होता है।

जीवन मे आत्म धर्म की प्राप्ति जो हो गई हो तो ससार के किसी पदार्थ के लिए इस भाग्यशाली को झूठ नही बोलना चाहिए।

आत्मधर्मी जीव आडम्बर रहित ही होता है। क्योकि आडम्बर सहित जीवन मे असत्य, प्रपच, माया मृषावाद, परपरिवाद, अभ्याख्यान रति–अरति, अन्त मे परिग्रह की माया प्रकारान्तर मे भी बढती जाती है। और जैसे जैसे परिग्रह बढता है वैसे वैसे शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श के भोगो का रागपूर्वक सेवन होता है, और प्रच्छन्न रूप से भी शब्दादि के प्रति भोग लालसा का भाव जिसे मैथुन कहते है, "सद्दा रूवा रसा गधा, फासाण पवियारणा मेहुउणस्स". असत्य भाषी, असत्याचरणी, असत्य व्यापारी, और व्यवहारी मनुष्य अपने व्यक्तित्व का दुश्मन होता है और वैसा होने पर स्वय के जीवन मे वैर–विष, क्लेश–कलह के माध्यम से वह भाग्यशाली अनेक जीवो का शत्रु बनेगा, और आगामी भव मे अल्पायुषी ही होगा।

(३) अल्पायुषी होने मे तीसरा कारण भगवान ने यह फरमाया है कि –जो कोई पच महाव्रतधारी मुनिराज को 'अप्रासुक और अनेषणीय आहार पानी आदि पदार्थ देते हैं वे भी अगले भव मे अल्पायुषी होते है। या होंगे

गुण और गुणी का सबध अनादि से है। स्वार्थवश, लोभवश, माया-वश और प्रमादवश, अथवा देवगति के सुखो की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रादि गुणो की अवहेलना करता है और उसके

प्रकार [illegible] का [illegible] और [illegible] [illegible] में [illegible] करके [illegible] पदार्थों का [illegible] है और [illegible] महापुरुषों में [illegible] का आदर करनेवाले [illegible] शीतल, मृदु, [illegible] आदि [illegible] से अशुभ कर्मों का [illegible] और [illegible] अल्पायुष्य का भागी बनेगा, अथवा [illegible] में भी दीनता, दरिद्रता, [illegible] और विषम वातावरण का भागी [illegible]।

अप्रासुक यानी देह पदार्थ [illegible] हो अथवा [illegible] की चेतना को बाधा पहुँचाने वाला हो, ऐसा भोजन, पान और खाद्य आदि पदार्थ अप्रासुक है। और अनेषणीय यानी अग्राह्य(?) है। जो साधुओं को संयम को, वीतरागता को, तथा मैत्री भाव को नष्ट करे अर्थात् जिससे स्वाध्याय प्रेमी साधु स्वाध्याय से वंचित हो जाय, वैराग्यवान आत्मा मे मोह की चेष्टा उत्पन्न हो जाय। त्यागी के आन्तरिक और बाह्य त्याग मे बाधा पहुँचे और मैत्री भाव से दूर होकर साधक की आत्मा को क्लेश पहुँचे ऐसे पदार्थ तथा वातावरण भी अनेषणीय है।

साधुओ के द्रव्य और भाव रूपी प्राण को खतरा पहुँचाये, ऐसी भक्ति अनेषणीय है।

कडवी तुम्बी का प्रतिदान करने वाली बाई का उदाहरण हमारे सामने है।

अल्पायुष्यता यानी ?

आख की पलकमारे उतने समय मे मरनेवाले जीव की अल्पायुष्यता यहाँ मान्य नही है। किन्तु अमुक की अपेक्षा से यह मनुष्य कम जीवित रहा। जैसे पूर्ण युवावस्था मे मरनेवाले को देखकर हम कहते हैं कि "इस आदमीने पहले भव मे हिंसाए की होगी ? या दूसरा कोई भी अशुभ कार्य

जल फिर जाते है उस मुनि की अपेक्षा से यह बात नही है। प्रश्न की समाप्ति मे, मुनिराजो की अपेक्षा से जानकर तैयार किये हुए आहार को लेकर गृहस्थ को प्राणातिपात और मृषावाद ये दोनो पाप लगते है। सबसे पहले आरंभ किया यानी जीव हिंसा हुई, तत्पश्चात् साधु महाराज गोचरी के लिए आते है और गृहस्थ से पूछते है कि " यह किस के लिए बनाया है ? " तब पश्चात् गृहस्थ कहता है कि यह तो हमारे लिए बनाया है। इसलिए आपको काम मे आता है। आप ले लीजिये। ऐसा कहकर वहोराने के संबध मे झूठ भी बोलता है और आगामी भव के लिए अशुभ कर्म बाधता है।

जब शुभ भावना से गुणग्राहक बनकर जो भाग्यशाली साधक अहिंसा धर्म, सत्य–धर्म का ख्याल रखकर मुनिराजो को निर्दोष तथा कल्पनीय आहार, पानी देते है वे आगामी भव के लिए दीर्घायुष्य कर्म बाधकर देवगति के सुखो को भोगेंगे।

इस विचित्र ससार मे दीर्घायुष्य भोगनेवाले जीव भी अनेक रीति से दुःखी दिखलाई देते हैं, उसका क्या कारण ? उत्तर मे भगवान फरमाते है कि तथाविध मुनिराजो को हीलनादि पूर्वक दान देने का यह फल है।–

(१) हीलन यानी गोचरी के लिए आये हुए मुनिराजो की जाति, कुल, गुण, अवगुण प्रकट करके ' आप हलकी जाति के हैं, आप तो ऐसा धधा करते है, ' आपका कुल उत्तम नही है, इसप्रकार दान देता जाता है और मुनिराज की हीलना करता जाता है।

२ निंदन यानी मुनिराजो की मन मे निंदा करना यानी " आप तो ऐसे हैं और वैसे है " क्या करें महावीर स्वामी का वेष धारण किया है, इस लिए आपको गोचरी देनी पडती है, नही तो आप गोचरी वहोराने के योग्य नही है।

४, [illegible], खोई हुई वस्तु के फिर मिलने की [illegible] का [illegible] न होने से [illegible] के कारण [illegible] किया जाता है।

५. मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी—जब तक सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं हुआ है, तब तक क्रिया भी लागू होती है। अन्यथा नहीं। इसप्रकार [illegible] वस्तु की चोरी हो जाने के पश्चात् मालूम नहीं मिलती है तब तक इस जीवात्मा के लिए आर्तध्यान [illegible] होने से [illegible] है। उसी समय इसका पता लग जाय कि अमुक व्यक्ति ने चोरी की है तो उसे रौद्र ध्यान में परिवर्तित होते देरी नहीं लगती। इससे जिसकी वस्तु गई है उसके मालिक के लिए [illegible] के साथ मोह भी आसक्त हो जाती है और दुर्गति का कारण बन जाती है। दूसरी तरफ जब खोई हुई वस्तु वापस प्राप्त हो जाती है तब उसका जी यथास्थान को प्राप्त हो जाता है। आर्तध्यान कम होने लगता है, खुद की भूल से यदि वस्तु खो गई हो तो अफसोस तथा पश्चाताप होने पर बांधे हुए कर्म पुनः कम होने लगते हैं।

अब हम चोर के संबंध में थोड़ा विचार करते हैं :—

(१) वस्तु के मालिक की मस्करी (मजाक) करने की भावना से भी चोरी की जाती है।

(२) द्वेषवृत्ति में आकर किसी व्यक्ति की वस्तु चुराई जाती है।

(३) वस्तु लेने की भावना न भी हो किन्तु पूर्वभव की आदत को लेकर दूसरे की वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखने की भावना से भी वस्तु का हेरफेर किया जाता है।

(४) वस्तु के मालिक के प्रति द्वेष के कुछ अंश की भावना होने से पहले तो वस्तु को किसी दूसरे स्थान पर छुपादी जाती है, तब उस खोई हुई वस्तु को ढूंढ कर उसका मालिक खूब ही हैरान हो जाता है, तब

महाक्रियावाला है? महाआस्रव को करनेवाला है? महावेदनावाला है? इसी पहले हुई अग्नि जलकर राख रूप में परिणत हो जाती है। अल्प कर्म, अल्प क्रिया, अल्प आस्रव और अल्प वेदनावाला होता है?

अग्निकाय जीव मे दाह शक्ति होने के कारण दूसरे जीवों को जलाये बगैर तथा दूसरे जीवों को समाप्त किये बिना नहीं रह सकता। यद्यपि अग्नि जलानेवाला उसमे लकड़ी या कोयला डालता है, उसको स्वयं को अपने आशय के अनुसार कर्म बंधन होता ही है, परन्तु अग्निकाय स्वयं भी दूसरे को जलानेवाली होने से महाक्रियावाला है। दूसरे के प्राण को समाप्त करनेवाली होने से महा आस्रववाली है। दूसरे जीवो का हनन करनेवाली होने से महाभयंकर ज्ञानावरणीयादि कर्मों को बांधनेवाली होती है। स्थावर योनि मे भी भयंकर कर्मों को करनेवाला अग्निकाय आगामी भव के लिए महाभयकर वेदना को भोगनेवाला होता है। इसप्रकार कर्म बाधने की परपरा और प्रक्रिया प्रत्येक योनि मे, प्रत्येक स्थान मे, जीवात्माओं के लिए निर्णीत है। अपने द्वारा बुझाती हुई अग्नि मे दाहक शक्ति कम होती जाती है, और जब राख रूप मे परिणत होने के पश्चात् जब जलाने की शक्ति उसमे नही रहती है, इसकारण से अग्निकाय कर्म बधन नहीं होता है।

भाव अग्नि

यह तो द्रव्य अग्नि की बात हुई किन्तु उपचार से भाव अग्नि (क्रोध, रोष, असहिष्णुता, ईर्षा), तो उससे भी भयकर है। द्रव्य अग्नि तो अपनी मर्यादा पर्यन्त जीवो को ही समाप्त करती है। जबकि कषाय अग्नि तो सपूर्ण ससार को 'वैरविष की आग मे स्वाहा कर देती है। जिस कारण से ससार की अर्थात् जीव मात्र की शान्ति-समाधि और समता भी आन्दोलित हो जाती है। क्रोध की ज्वाला जब प्रकट होती है तब उसके साथ मे रहनेवालो की बुद्धि कुठित और उदासीन बन जाती है जिससे

पांच क्रियाओं की कामना

कोई पुरुष धनुष को ग्रहण करता है, बाण ग्रहण करता है और दोनों को लेकर एक स्थान पर बैठ जाता है। वह इस प्रकार के आसन पर बैठता है जिससे धनुष की स्थिति में हो। बाण को फेंकता है, यह फेंका हुआ बाण अपने सामने आये हुए प्राणियों का, भूतों का, जीवों का और सत्वों का वध (हनन) कर देता है। जिसपर निशाना बैठा, उसके शरीर को संकुचित कर

गये, हजार और लाख मनुष्य परस्पर बैर की गांठ में ग्रथित हो जाते हैं।

इस अग्नि को उपचार भी बन सकते है परन्तु क्रोध अग्नि की ज्वाला से तो रति मात्र भी उपकार प्राप्त नहीं होती है। इसी कारण भगवान ने कहा है कि :—

> मानव ! ओ मानव !
> ससार के स्टेज पर आने के पहले
> तेरे हृदय को शम का प्याला पिलाकर उसे ठंडा बना देना।
> तेरे मस्तिष्क को समता के लेप द्वारा शीतल बना देना।
> तेरी वाणि को हितकारिणी और मीठी बनाना।
> तेरी प्रवृत्तियो को जीवों के कल्याण के लिए बनाना।

आत्मिक जीवन के लिए उपर्युक्त प्राथमिक ट्रेनिंग लेने के बाद ही दूसरो को उपदेश देना तो उनमे से ससार को अमृत मिलेगा और स्वर्ग की अप्सराए भी तेरा गुण–गान करेगी।

बस, यही मानवता है। इसके अतिरिक्त मानवता की कल्पना वन्ध्या स्त्री को पुत्र प्राप्ति तथा शशक (खरगोश) के सीग लगाने जैसी सिद्ध होगी

[illegible]

जिसके जीवन में किसी प्रकार का संयम भाव नहीं है उन जीवों को ही पाच क्रियाए लगती है।

"सयमी जीवन मे प्रवेश करने के बाद भी स्वाध्याय बल बिना चाहे जैसा साधक हो वह अपनी शुद्ध लेश्याओ को स्थिर नही रख सकता। तब अशुद्ध लेश्याओ के द्वार खुले होने से उस साधक का शरीर मर्यादित नहीं रहता है। इससे रोष मे आकर सपूर्ण जीवराशि को अभयदान देनेवाला रजोहरण, डडासन आदि उपकरण ही 'अधिकरण' यानी दूसरो को मारने के लिए उपयोग मे आते देरी नही लगती है। यह कायिकी क्रिया तथा अधिकरण की क्रिया हुई। द्वेष भाव होनेसे प्राद्वेषिकी क्रिया भी हुई। दूसरो को सताने (दवाने की भावना) की वृत्ति होने से पारितापनिकी क्रिया हुई। द्रव्य तथा भाव प्राणो का उपघात होने से पारितापनिकी क्रिया हुई। इसप्रकार गुरुकुलवास बिना का साधकभी पाच क्रियाओ का मालिक होनेपर अत्यन्त अशुभ असातावेदनीय कर्मो को प्रतिक्षण उपार्जन करता है।"

ठीक नहीं है। इसप्रकार चार सौ से पांच सौ योजन तक तिर-
लोक नैरयिकों से समाकुल भरा रहता है।

नैरयिक एक रूप से भी विकुर्वणा कर सकता है और बहुत प्रकार से भी विकुर्वणा कर सकता है। यह बात जीवाभिगम सूत्र में विस्तार से वर्णित है। ७३

७३. नरकों में रहे हुए नारक जीवों की विकुर्वणा के लिए ये प्रयोजन है। जैसे मनुष्यगति में है जैसे यहां कोई भी सुनार (स्वर्णकार), लोहार, चमार, दर्जी आदि पुरुष नहीं होते है। किन्तु पारस्परिक जन्म वैर जिन्होंने पापों को बांधकर नारक जीवों का नरकभूमि का प्रयोजन होने से वे जीव अपने वैर कारण से वैक्रिय लब्धि की विकुर्वणा करते है। अर्थात् सन्मुख आये हुए नारक जीवों को देखकर मन भर के जिस प्रकार वैर विरोध किया हुआ होता है वही स्मृति उनमें उत्पन्न होती है, और उनको मारने के लिए मानसिक कल्पना के माध्यम से उस उस प्रकार के अपने शरीर से संबंधित, असंख्येय प्रमाण में शस्त्रों की विकुर्वणा इसप्रकार करते है

मुद्गर (शस्त्रविशेष) मुषढि (शस्त्रविशेष) करपत्र (करवत) असि (तलवार) शक्ति (लोहे का बना शस्त्र) हल, गदा, मुशल, चक्र, नाराच (बाण) कुन्त (भाला) तोमर, शूल, भिंडमाल (शस्त्र विशेष) इत्यादि शस्त्रो से दूसरे नारक जीवो के शरीर को भेदता है, काटता है, टुकडे टुकडे कर देता है, चीर देता है, और परस्पर इसप्रकार वैर का बदला लेता हुआ नारक जीव अत्यन्त पीडा को भुगतता है वे वेदनाए निम्नानुसार है –
उज्जवला :– जिस वेदना मे सुख का लेश मात्र न हो वैसे दुःखो से पूर्ण वेदना।

[illegible]

मृषावाद के प्रकार

[illegible]

मृषावाद का स्वरूप इसप्रकार है

१ अलीक-भूतनिह्नव-यानी दूसरों के गुणों के सद्भाव को भी छुपाकर दूषित करते हैं। जैसे—सामनेवाला जीव ब्रह्मचर्य पालता है। फिर भी उसको निन्दित करने हेतु इसप्रकार कहना कि 'यह भाई ब्रह्मचर्य को नही पालता है, तपश्चर्या नही करता है, क्रिया काण्ड नही करता है इसप्रकार बोलना यह अलीक असत्य भाषण है।

२ असद्भूत-यानी 'जो चोर नही है, उसको चोर कहना, चौर्य कर्म का अभूत यानी विद्यमानता नही, तो भी यहे चोर है, ऐसा उद्भावन करना, वह असद्भूत अलीक है।

ये दोनो प्रकार के मिथ्यावचन बोलनेवाले के मन मे हिंसकता, ईर्ष्यालुता, असहिष्णुता तथी वैर विरोध आदि वैकारिक भाव होते है।

यदि बोलनेवाला अहिंसक हो, जैसे साधक के सामने से हरिण जाता है, और तत्पश्चात् आनेवाला शिकारी उस साधक को पूछता है कि 'इधर से जाते हुए हरिण को देखे है? किस तरफ गये है? इस प्रकार पूछने पर भी महाव्रती साधक जवाब देते है कि "मैने

है।" और जो कर्ता होता है वह कर्मों का भोगता भी होता है।

जो आत्मा अपने किये हुए पुण्य और पाप के फल भुगत सकती है तो उसे कर्तृत्व धर्मयुक्त मानने मे आपत्ति कहाँ आ सकती है? कर्मों को प्रकृति कहते हैं और सुख दुख के अनुभव पुरुष करता है, ये सब हास्यास्पद बातें सुज्ञ मनुष्य के मस्तिष्क मे किसप्रकार उतरेगी? इसलिए जो कोयला खाता है उसका मुह काला होता है? इस न्याय के अनुसार पुरुष ही कर्म करनेवाला हैं और वही भोगने वाला है।

(४) साक्षाद भोक्ता—यानी अपने (स्वय के) द्वारा किये गये पुण्य तथा पाप के कर्मों को पुरुष साक्षात् भोगनेवाला है।

"जो करेगा वह भोगेगा" "जो जसकर ही वह तस फल चाखा" इत्यादि महापुरुषो की उक्तियाँ इसीलिए चरितार्थ होती है कि पुरुष कर्मों का कर्ता और भोक्ता भी है।

प्रकृति स्वत जड़ होने के कारण चैतन्यमय आत्म के प्रयत्न के बिना कोई भी कार्य नही कर सकती है। इसलिए आत्मा मे कर्तृत्व की तरह भोक्तृत्व भी है।

(५) स्वदेह परिणाम :–आत्मा क्या सर्वव्यापक है? अगूठा जितना है? जैन शासन जवाब देता है कि आत्मा शरीर व्यापी है। आत्मा के गुण शरीर मे दिखाई देते है, इसलिए शरीर व्यापी है।

जो पदार्थ जहाँ पर रहा हुआ होता है उतने ही प्रदेश मे उनके गुणो की विद्यमानता होती है। घडा मेरे वहाँ होवे और उसका लाल, काला रग दूसरे स्थान पर रहे, ऐसा सभव नही है। उसीप्रकार आत्मा के ज्ञानादि गुण और सुख दुःखादि पर्याय शरीर प्रमाण मे ही दिखाई देता है। आत्मा जो सर्वव्यापक हो तो उसके गुण और पर्याय भी सर्वत्र दीखने चाहिए।

इसीप्रकार पांच प्रदेशवाले स्कंध से लेकर यावत् अनंत प्रदेशवाले स्कंध तक हरेक स्कंध के लिए समझना है।

परमाणु-पुद्गल तलवार या अस्त्रों का आश्रय ले, किन्तु वे न तो छेदे जाते है और न भेदे जाते है। इसप्रकार असंख्य प्रदेशवाले स्कंध तक जानना। किन्तु अनंत प्रदेशवाला स्कंध हो तो कोई छेदा-भेदा जाता है और कोई एक छेदा--भेदा नहीं जाता है।

इसप्रकार परमाणु-पुद्गल से लेकर अनंत प्रदेश वाले स्कंध तक प्रत्येक पुद्गल के लिए 'अग्निकाय के मध्य मे प्रवेश करे तो?' 'पुष्कर सवर्त नाम के बडे मेघ के मध्य मे प्रवेश करे?' या 'गंगा महा नदी के प्रवाह मे हो तो? उदकावर्त या उदकबिंदु के प्रति प्रवेश करे तो? इसप्रकार के प्रश्न किये जा सकते है? जहॉ जैसा परिणाम होता है, वहॉ वैसा, यानी छेद-भेद के बदले जले। भिगा? जाता है। नष्ट हो? आदि कहे जा सकते है।

परमाणु पुद्गल अनर्ध (अर्ध रहित) अमध्य और अप्रदेश है। दो प्रदेश वाला स्कंध सार्ध है। सप्रदेश और मध्यरहित है। तीन प्रदेशवाला स्कंध अनर्ध है। समध्य है और सप्रदेश है।

संक्षेप मे सम संख्यावाला, सम सख्यावाले स्कध के लिए दो प्रदेशवाले स्कंध की तरह सार्धादि विभाग जानना और विषम स्कंध सम सख्या वाले स्कंधो के लिए तीन प्रदेश वाली स्कंध की तरह जानना।

अब परमाणु पुद्गल को स्पर्श करते हुए दो प्रदेश वाला स्कंध तीसरे और ९ में को विकल्प से स्पर्शता है ।

दो प्रदेश वाले स्कंध को स्पर्श करते हुए दो प्रदेश वाला स्कंध, १ ला, ३ रा, ७ वा और ९ में को विकल्प से स्पर्शता है।

तीन प्रदेश वाले स्कंध को स्पर्श करते हुए दो प्रदेश वाला स्कंध पहले तीन (१–२–३) और अन्तिम तीन (७–८–९) विकल्प से स्पर्शते है और बीच मे के तीन विकल्प से प्रतिषेध करना ।

जैसे दो प्रदेश वाले स्कंध को ३ प्रदेशवाले स्कंध की स्पर्शता कराई, इसी प्रकार चार प्रदेशवाला, पांच प्रदेशवाला, यावत् अनंत प्रदेशवाला स्कंध की स्पर्शता कराना ।

अब परमाणु पुद्गल को स्पर्श करते हुए तीन प्रदेशवाला स्कंध तीसरे, छठे, और नवमे विकल्प से स्पर्शते है। दो प्रदेश-वाले स्कंध को स्पर्श करते हुए तीन प्रदेशवाला स्कंध १–३–४–६–७ और ९ को विकल्प से स्पर्शता है।

तीन प्रदेशवाले स्कंध को स्पर्श करते हुए तीन प्रदेशवाला स्कंध सर्व स्थानों से स्पर्शता है इसलिए नवमे मे विकल्प से स्पर्शता है।

जैसे तीन प्रदेशवाले स्कंध ने तीन प्रदेशवाले स्कंध का स्पर्श कराया, तीन प्रदेशवाले स्कंध ने चार, पांच यावत् अनंत प्रदेशवाले

अगुरुलघु परिणत पुद्गल, जैसे एक गुण काले पुद्गल का कहा है। वैसे जानना।

परमाणुरूप पुद्गल परमाणुपन छोड़कर दुबारा परमाणुपन प्राप्त करते कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्य काल लगता है। इस अंतर में वह परमाणु छोड़कर स्कंधादि रूप में परिणमता है। और वह वापस परमाणु प्राप्त करता है तो ऐसा करने में इतना ही समय लगता है।

दो प्रदेश वाले स्कंध को जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अनंतकाल का अंतर है। इसप्रकार अनंत प्रादेशिक स्कंध तक जानना।

एक प्रदेश मे स्थित सकंप पुद्गल को, अपने गिरते कंपन को छोड़कर, दुबारा कंपन करते हुए जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से असंख्य काल तक का अंतर हो, इसप्रकार असंख्य प्रदेश स्थित स्कंध के लिए भी जान लेना।

एक निष्कंप पुद्गल अपनी निष्कंपता छोड़ देता है और फिर दुबारा उसे निष्कंपता प्राप्त करते जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आवलिका का असंख्य भाग इतना समय लगता है।

इसप्रकार असंख्य प्रदेश स्थित स्कंध के लिए भी जान लेना चाहिए।

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, सूक्ष्म परिणत और बादर परिणतों के लिए उसका जो स्थितिकाल बताया है, वही अंतर काल है।

उन्होने शरीर परिगृहीत किया है। कर्म ग्रहण किया है और सचित, अचित तथा मिश्र द्रव्य भी ग्रहण किये हुए है। इसलिए वे परिग्रहवाले भी है।

इसीप्रकार असुर कुमार आरंभवाले और परिग्रहवाले है। क्योंकि वे भी पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकायतक का वध करते है। उन्होंने शरीर, कर्म, भव आदि को ग्रहण किया हुआ है। आसन, शयन और उपकरण ग्रहण किया हुआ है। इसीप्रकार सचित, अचित और मिश्र द्रव्य भी ग्रहण किये हुए हैं। इसलिए वे सपरिग्रह है।

इसी प्रकार स्तनित कुमार के लिए भी जान लेना, और नैरयिक के लिए जो कहा है। इसीप्रकार एकेन्द्रिय के लिए जान लेना। इसीप्रकार दो इन्द्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के लिए भी जानलेना। और जैसे तिर्यंच योनि के जीवों के लिए कहा है, इसीप्रकार मनुष्यो के लिए भी जान लेना।'

वाणमंतर, ज्योतिषि और वैमाणिकों को भवनवासी देवों के जैसे जानलेना। ※ ७९.

※ ७९ नारकदेव भी क्या पाप बांध सकते है ?

मानव अवतार प्राप्त किये मनुष्य के पास तलवार, भाला, बंदूक, छुरी, कलम, जीभ ? लकडी, व्यापार, लेनदेन, कोर्ट, कचहरी, आदि परिग्रह और स्त्री की माया होने के कारण दुर्बुद्धिवश पाप करता है। हम सब

नरकगति के जीव क्या आरंभ वाले हैं ? परिग्रहवाले है ? गौतमस्वामी द्वारा जब यह प्रश्न पूछा गया, तब दिव्य ज्ञानी और जो जीव मात्र के द्वारा छोडे गये पुद्गल परिणामो की क्रिया विक्रिया को जाननेवाले, किस पुद्गल का किस प्रकार का नाश होने वाला है अथवा हो रहा है, उसे प्रत्यक्ष करनेवाले ऐसे भगवान महावीर स्वामी ने इसप्रकार कहा है, हे गौतम, नारक जीव परिग्रह और आरंभ वाले हैं। उन के शरीर हैं, कर्म है, तथा सचित्त, अचित और मिश्र द्रव्यो का परिग्रह है । इसलिए त्रसकाय जीवो का आरभ करनेवाले होने से नये कर्मों को भी वाधते हैं ।

जिस गति म मे नरक मे जाने की योग्यता वाले जीव नरक भूमि मे जाते हैं । उनका अध्यवसाय वहुत ही खराव वैरयुक्त, पापिष्ठ, तथा क्लिष्ट होने के कारण नरक मे जाने के वाद भी उन अध्यवसायो के परिणाम मे नारक जीव हमेशा वैर करनेवाले और वैर को वढानेवाले और वैर का वदला लेने को भावना रखने वाले होने से आरभ के मालिक वन जाते हैं । वैर, क्रोध, मान–माया–लोभ आदि आन्तर परिग्रह के कारण सामने वाले दूसरे नारक जीव को देखते ही वैरादि की लेश्याओ से वह नारक जीव ओत प्रोत हो जाता है । और अपनी वैक्रिय लब्धि मे अनेक प्रकार के हिंसक शस्त्रो का परिग्रह उपार्जन करके परस्पर मारकाट करते है । और भयकर वेदनाओ को भोगते है । जो दुवारा कर्म वधन का कारण वन जाता है,। दूसरी वात यह है कि मनुष्य अवतार को छोडकर नरक भूमि मे जानेके पहले ही उस मानव के नरक के सस्कारो की लेश्या उदय मे आजाने से उनके सपूर्ण आत्मिक प्रदेश (आठ रुचक प्रदेश विना) भी क्रोध और वैरमय वन जानेसे थोडी वहुत भी प्राप्त की हुई ज्ञानसज्ञा भी दव जाती है और भयकर वैर कर्म के सन्निपात मे किसी जीव के साथ क्षमापना, मिच्छामि दुक्कड, भव आलोयणा, पुद्गलो का परित्याग, और उससे जो हो गई है तथा होनेवाली हिंसा का त्याग किये विना ही वे जीव नरक मे जाते है । उससे उनके मरने के वाद भी शेप बचा हुआ धन, शस्त्र, वस्त्र आदि

पांच हेतु

१	२
१ हेतु को जानते है।	१ हेतु से जानता है।
२ हेतु को देखते है।	२ हेतु से देखता है।
३ हेतु के प्रति सम्यक्तया श्रद्धा रखते है।	३ हेतु से अच्छी रीति से श्रद्धा है।
४ हेतु को अच्छी तरह प्राप्त करते है।	४ हेतु से अच्छी रीति से प्राप्त करते हैं।
५ हेतुवाले छद्मस्थ की मृत्यु होती है।	५ हेतु से छद्मस्थ मरण करते हैं।

सामग्री भी दूसरे जीवो को क्लेश करनेवाली होनेसे उन सबका पाप उस वस्तु के मूल मालिक को भी लगता है।

इसी कारण से लोकोत्तर जैन शासन वारवार फरमाते है कि 'आप अपनी जीवन-यात्रा को अनासक्त, सम्यक्त्व और समता भाव से पूर्ण करोगे और पुन पुनः मिच्छामि दुक्कड देने की भावना को जागृत रखोगे। जिससे इस भव की कोई भी वस्तु हमारे मरने के बाद हमारे को तथा दूसरो को बाधक नही बन सकती।

असुरकुमार तथा स्तनितकुमार देव परिग्रही होने के कारण पृथ्वी काय तथा त्रस जीवो का वध करते है। क्योंकि उनको भी शरीर परिगृहीत है। उससे उनके देव और देवियो का परिग्रह है देवगति मे आने के पहले मनुष्य, मनुष्य स्त्रिये, तिर्यंचो तिर्यंच स्त्रियें, आसन, शयन, मिट्टी के वर्तन, कासी के वर्तन, कढाई, कुडछी आदि को ग्रहण किया है। इसलिए परिग्रह

३

१ हेतु को नहीं जाने।
२ हेतु को नहीं देखे।
३ हेतु को अच्छी रीति से नहीं श्रद्धे।
४ हेतु को अच्छी रीति से नहीं प्राप्त करे।
५ हेतुवाला अज्ञान मरण न करे।

४

१ हेतु से नहीं जाने।
२ हेतु से नहीं देखे।
३ हेतु से अच्छी रीति से नहीं श्रद्धे।
४ हेतु से अच्छी रीति से नहीं प्राप्त करे।
५ हेतु से अज्ञान मरण करे।

और आरभवाला है। एकेन्द्रिय जीव भी कर्मवाले होनेसे परिग्रही और आरभी है। इस प्रकार दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवो के लिए भी समझ लेना।

तिर्यच, पचेन्द्रिय जीव भी कर्मों को ग्रहण किये होने से पर्वत, शिखर, शैल, शिखरवाले पहाड, जल, स्थल, गुफा, पानी का झरना, निर्झरणा, जल के स्थान, कुआ, तालाव, नदी, वावडी, नाली (मोरी) आदि असख्य स्थानो को परिगृहीत किये हैं। इसलिए परिग्रही है और आरभी है। मनुष्यो, वाणमतरो, ज्योतिषियो और वैमानिको के लिए ऐसा ही जानलेना। इस-प्रकार प्रतिसमय जीवात्मा कर्म वाधता है।

सार इतना ही है कि यह पच्चकखाण प्रतिक्रमण, आलोचना, गर्हणा और पाप भीरूता विना के जीव को किस समय, कैसे सस्कार, स्वप्न और लेश्याए उदय मे आवेंगे, उनके सवध मे कुछ कहा नही जा सकता। ऐसा होनेपर जीवन मे क्रोध, मान, माया और लोभ का प्रवेश होता है तव जीवात्मा की दशा कर्मो का वधन करने योग्य होते देर नही लगती।

५

१ अहेतु को जाने।
२ अहेतु को देखे।
३ अहेतु को अच्छी रीति से प्राप्त करे।
४ अहेतुवाला केवली मरण करे

६

१ अहेतु से जाने।
२ अहेतु से देखे।
३ अहेतु से अच्छी रीति से श्रद्धे।
४ अहेतु से अच्छी रीति से प्राप्त करे।
५ अहेतु से केवली मरण करे।

७

१ अहेतु को नहीं जाने!
२ अहेतु को नहीं देखे।
३ अहेतु को अच्छी रीति से श्रद्धे।
४ अहेतु को अच्छी तरह से प्राप्त करे।
५ अहेतुवाला छद्मस्थ मरण करे।

८

१ अहेतु से नही जाने।
२ अहेतु से नहीं देखे।
३ अहेतु से अच्छी रीति से नही श्रद्धे।
४ अहेतु से अच्छी रीति से नहीं प्राप्त करे।
५ अहेतु स छद्मस्थ मरण करे। ※ ८०.

※ ८० वह श्रुतगम्य इस हेतु आदि के ८ सूत्र टीकाकार के भाव अनुसार ही ऊपर ऊपर से जानने का प्रयास करे।

जीवों के चार प्रकार है :-

१ सम्यग्दृष्टि २ मिथ्यादृष्टि ३ केवलज्ञानी ४ अवधिज्ञानी

सम्यग्दृष्टि आत्मा सम्यग्ज्ञानी होते हुए भी छद्मस्थ है। इसलिए हेतु (हिनोति–गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टान् अर्थान् इति हेतु) यानी कि जिज्ञासित धर्म के विशिष्ट अर्थ को सूचित करे, उसे हेतु–साधन लिंग कहते है। जो "निश्चितान्यथानुपपत्त्येक लक्षणो हेतुः" यानी हेतु का लक्षण यह है कि साध्यविना जिसकी उत्पत्ति नही हो सके। इस हेतु के उपयोग से जीवात्मा अभिन्न होने से पुरुष भी हेतु कहा जाता है।

क्रिया की पृथक्ता को लेकर हेतु पाच प्रकार के है। जीव मे सम्यग्दृष्टिपन होने से हेतु भी सम्यग्दृष्टि जानना। साध्य को सत्य स्वरूप मे सिद्ध करनेवाला और साध्य के सद्भाव मे साथ रहनेवाले हेतु को जानते है, सामान्य रूप से हेतु को देखते है, हेतु को अच्छी रीति से श्रद्धा मे लाते है। साध्य की सिद्धि मे उपयोग मे लेने (वापरने) से हेतु को अच्छी तरह से प्राप्त करते हैं, और मरण के कारण रूप अध्यवसाय आदि मरने के हेतु के साथ सबध होने से मरण भी हेतु कहा जाता है। इसलिए उस हेतु को यानी हेतुवाला छद्मस्थ मरण करता है (मृत्यु को प्राप्त होता है)। यहाँ पर केवलीमरण लेने का नही, क्योकि वह अहेतुक होता है। और सज्ञान होने से अज्ञान मरण भी नही प्राप्त करता है।

दूसरे प्रकार से भी अनुमान को उत्पन्न करनेवाले हेतु से अनुमेय वस्तु को सम्यग्दृष्टि होने से अच्छी तरह जानते है, देखते है, श्रद्धा करते है, अच्छी तरह से प्राप्त करते है। और अकेवली होने से अध्यवसाय रूप हेतु से छद्मस्थ मरण करता है। मृत्यु को प्राप्त होता है।

इन दोनो सूत्रो मे जीवात्मा सम्यग्दृष्टि होने से साध्य को सिद्ध करने के लिए साधन (हेतु) भी सम्यक् प्रकार से स्वीकारेंगे जैसे :–"उपयोगवत्व जीवस्य लक्षणम" यानी जीव रूप साध्य का उपयोग लक्षण ही ठीक है। सर्वांगीण शुद्ध है, इसलिए सत्य है। क्योकि "जीवति प्राणान् धारयतीतिजीव" और "ज्ञानाधिकरण आत्मा" अर्थात जीव वह है जो दश द्रव्य प्राणो को धारण

करता है । और जीवात्मा ज्ञान स्वरूप ही होती है । उस कारण से जीव का सच्चा लक्षण उपयोग ही हो सकता है ।

अव २ सूत्र तीसरे और चौथे नवर के मिथ्यादृष्टि के लिए है ।

हेतु का व्यवहारी होने से जीव भी हेतु कहा जाता है । जीव मिथ्यादृष्टि होने के कारण हेतु को असम्यक् प्रकार जानते हैं । देखते है, श्रद्धा करते है, प्राप्त करते हैं । असम्यग्ज्ञानी होने से अध्यवसायादि हेतु सहित अज्ञान मरण करता है (मृत्यु को प्राप्त होता है) दूसरे तरीके से हेतु यानी निशान के द्वारा सम्यग्प्रकार से नही जाना जाता है । नही देखता है, नही श्रद्धता है, नही प्राप्त करता है, और अज्ञान मरण को प्राप्त होता है । इन दोनों सूत्रो मे मिथ्यादृष्टिपन का विप होने से मिथ्याज्ञान को लेकर हेतु भी वरावर नही जान सकते । जैसेकि 'परणामी शब्द चाक्षुपत्वात् 'अचेतनाम्तरवः विज्ञानेन्द्रियाऽऽ युनिरोध लक्षण मरण रहित्त्वात्' इत्यादिक हेतु अज्ञानपूर्ण होने से साध्य का सत्य स्वरुप किसप्रकार जान सकेंगे ?

अव पाचवें और छट्ठे नवर के दो सूत्र केवल ज्ञानी के लिए है । उसे सव प्रत्यक्ष होता है । इसलिए उसप्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान रखते हुए केवल-ज्ञानियों को कोई भी देखने या जानने के लिए किसी भी जाति के हेतु या निशान की जरुरत नही रहती है । उससे वे हेतु की जरुर विना के कहे जाते हैं । अहेतु कहे जाते है । यानी प्रत्यक्ष ज्ञानी के लिए हेतु का व्यवहार न होने से केवल ज्ञानी अहेतु कहे जाते हे । सर्व ज्ञान को लेकर अनुमान की जरुरत न होने से धूमादिक पदार्थों को अहेतु समझता है । अग्नि को जानने के लिए वे हेतु भाव को नही जानते है । क्योंकि सर्वज्ञ मे अनुमान करने का भाव नही रहता है । उससे धूमादिक पदार्थ उनको अनुमान नही करा सकते है । इसलिए ही धूमादिक हेतु की अपेक्षा बिना के सर्वज्ञ अहेतु कहे जाते हैं । अहेतु को देखते हैं, प्राप्त करते हैं, तथा अनुपक्रमी होने से यानी किसी निमित्त मे भी नही मरते है वैसा होने मे अहेतुक केवली मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

जबकि अन्तिम दो सूत्र अवधि वगैरे ज्ञानवाले के लिए है। जो सर्वज्ञ ज्ञानी न होने से धर्मादिक पदार्थ मे अनुमान का प्रादुर्भाव हो ऐसा दृष्टान्त न होने से उनको सर्वथा अन्य भाव से नही जाते है फिरभी कदाचित् जानते है।

अध्यवसाय वगैरे उपक्रम कारण न होने से केवली मरण नही किन्तु छद्मस्थ मृत्यु को प्राप्त होते है। अवधिज्ञान होने से इन मरण को अज्ञान मरण नही कहते है।

॥ सातवा उद्देशा समाप्त ॥

शतक पांचवां   उद्देशा-८

पुद्गल

भगवान महावीर स्वामी के शिष्य नारदपुत्र नाम के अनगार और दूसरे शिष्य निर्ग्रन्थी पुत्र इन दोनो की पुद्गल सबंधी चर्चा हे सार यह है :-

जहाँ नारदपुत्र अनगार है, वहाँ निर्ग्रंथ पुत्र अनगार आता है। प्रारभ मे निर्ग्रंथ पुत्र अनगार नारदपुत्र अनगार से पूछता है। और इन दोनों की चर्चा होती है।

नारदपुत्र अनगार अपने मत के अनुसार सब पुद्गलों को सअर्ध, समध्य और सप्रदेश बताता है। तब निर्ग्रंथ पुत्र अनगार पूछता है कि किस द्रव्यादेश से सब पुद्गल सअर्ध, समध्य और सप्रदेश है? और अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं है? वैसे क्षेत्रा-देश से भी इसी प्रकार है। और उसीके अनुसार कालादेश से और भावा देश से भी है।

नारदपुत्र अनगार कहता है-हाँ, इसी प्रकार है। इस चर्चा मे निर्ग्रंथपुत्र अनगार नारदपुत्र अनगार को निरुत्तर बना देता है। तत्पश्चात् नारदपुत्र अनगार निर्ग्रंथीपुत्र नारद के पास जानने की इच्छा प्रकट करता है। यानी निर्ग्रंथीपुत्र अनगार इसप्रकार स्पष्टतापूर्वक समझाता है।

द्रव्यादेश से भी सर्व पुद्गल सप्रदेश भी है। और अप्रदेश भी है। वे अनंत हैं। क्षेत्रादेश से भी इसीप्रकार है। कालादेश और भावादेश से भी इसी प्रकार है।

जो पुद्गल द्रव्य से अप्रदेश है नियमानुसार वे क्षेत्र से अप्रदेश होते हैं। काल से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होते हैं। और भाव से भी कदाचित् सप्रदेश होते है और कदाचित् अप्रदेश होते हैं।

जो क्षेत्र से अप्रदेश होते हैं, वे द्रव्य से कदाचित सप्रदेश होते हैं। और कदाचित् अप्रदेश होते हैं। काल से तथा भाव से भजना। यह जान लेना। जैसे क्षेत्र से कहा गया है वैसे काल से और भाव से कहना।

जो पुद्गल द्रव्य से सप्रदेश हो, वे क्षेत्र से कदाचित् सप्रदेश होते हैं। और कदाचित् अप्रदेश होते हैं। इसप्रकार काल से और भाव से भी जानलेना।

जो पुद्गल क्षेत्र से सप्रदेश होते हैं, वे द्रव्य से निश्चयात्मक सप्रदेश होते हैं। और काल से तथा भाव से भजनायुक्त हो, जैसे द्रव्य से कहा है वैसे काल से और भाव से भी जानना।

भावादेश से अप्रदेश पुद्गल सबसे थोडे हैं। उनकी अपेक्षा कालादेश से अप्रदेश असख्यगुण हैं। उनकी अपेक्षा द्रव्यादेश से सप्रदेश विशेपाधिक है। उनकी अपेक्षा कालादेश से सप्रदेश विशेपाधिक है। और उनकी अपेक्षा भावादेश से सप्रदेश विशेपाधिक है।

जीवों की क्षयवृद्धि और अवस्थितता

अब भी गौतमस्वामी महावीर भगवान् को पूछते है। तथा महावीर स्वामी उत्तर देते है।

जीव न वढते है और न घटते है किन्तु अवस्थित रहते हैं। नैरयिक बढ़ते हैं, घटते है और अवस्थित भी रहते है। जैसा नैरयिको के लिए कहा है, वैसा वैमानिक तक के देवों के सवंध मे जानना।

सिद्ध बढ़ते हैं, किन्तु घटते नहीं है, अवस्थित रहते हैं।

नैरयिक जघन्य से एक समय तक और उत्कृष्ट से चौबीस मुहूर्त तक अवस्थित रहता है। इसप्रकार सात पृथ्वी में भी रत्नप्रभा मे ४८ मुहूर्त, शर्करा प्रभा मे १४ रात्रि दिवस, वालुका प्रभा में एक मास, पंक प्रभा मे २ मास, धूम प्रभा मे चार मास, तमः प्रभा मे ८ मास और तमस्तम प्रभा में बारह मास अवस्थान काल है।

जैसे नैरयिकों के लिए कहा है, वैसे असुरकुमार भी बढ़ते हैं, घटते है और जघन्य मे एक समय तक और उत्कृष्ट में ४८ मुहूर्त तक अवस्थित रहते है। इसप्रकार १० प्रकार के भी भवनपति कहना चाहिए।

एकेन्द्रिय वढते है, घटते है और अवस्थित भी रहते है। इसका यह अवस्थित काल जघन्य रूप से एक समय और उत्कृष्ट रूप से आवलिका का असख्य भाग समजना।

भ. सू. ३२

दो इन्द्रिय बढते है, घटते है और उनका अवस्थान जघन्य रूप से एक समय और उत्कृष्ट रूप से २ अंतर्मुहूर्त तक जानना। इसप्रकार चार इन्द्रिय के संबंध मे जानकारी रखना।

अवस्थान काल मे भेद होते है जैसे :-

सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिकों का अवस्थान काल दो अन्तर्मुहूर्त, गर्भज पंचेंद्रिय तिर्यंच योनिकों को चोवीस मुहूर्त, सम्मूर्च्छिम मनुष्यों को अडतालीस मुहूर्त, गर्भज मनुष्यों को चोवीस मुहूर्त।

वानव्यन्तर, ज्योतिषिक, सौधर्म और ईशान देव लोक में ४८ मुहूर्त, सनत्कुमार देव लोक मे अठारह रात्रि दिवस और ४० मुहूर्त, माहेन्द्र देव लोक में चोवीस रात्रि दिवस और २० मुहूर्त। ब्रह्मलोक में ४५ रात्रि दिवस, लांतक देवलोक मे नव्वे रात्रि दिवस, महाशुक्र देवलोक मे १०८ रात्रि दिवस, सहस्रार देवलोक मे दो सौ रात्रि दिवस। आनत और प्राणत देवलोक मे संख्येय मास तक। आरण और अच्युत देवलोक मे सख्येय वर्षों।

ग्रैवेयक देवों को, विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित देवों को, असख्य हजार वर्षों तक का अवस्थान काल है। सर्वार्थसिद्धि मे पल्योपम के सख्येय भाग तक और ये जघन्य मे एक समय तक और उत्कृष्ट मे आवलिका के असख्य भाग तक बढते है और घटते है।

सिद्ध जघन्य मे एक समय और उत्कृष्ट मे आठ समय तक

चढते-हैं और जघन्य मे एक समय और उत्कृष्ट मे छ मास तक सिद्ध अवस्थित रहते है।

जीव निरुपचय और निरपचय है। किन्तु सोपचय नही। सापचय नहीं, सोपचय–सापचय नहीं।

एकेंद्रिय जीव तीसरे पद मे है। यानी सोपचय और सापचय है।

सिद्ध निरुपचय हैं और निरपचय है। जीव सर्व काल तक निरुपचय और निरपचय है।

नैरयिक जघन्य मे एक समय तक और उत्कृष्ट मे आवलिका के असक्य भाग तक सोपचय है। इसी रीतिसे नैरयिक उतने ही कालतक सापचय भी है। इतने ही काल तक सोपचय आर सापचय भी है और नैरयिक जघन्य मे एक समय तक और उत्कृष्ट मे बारह मुहूर्त तक निरुपचय और निरपचय है।

सब एकेंद्रिय जीव सर्व काल तक सोपचय और सापचय है। शेप सब जीव सोपचय भी है आर सापचय है। निरुपचय है और निरपचय भी है।

जघन्य मे एक समय और उत्कृष्ट मे आवलिका का असंख्य भाग है। अवस्थितो मे व्युत्क्राति काल कहना।

सिद्ध जघन्य मे एक समय और उत्कृष्ट मे आठ समय तक सोपचय है।

सिद्ध जघन्य में एक समय और उत्कृष्ट में छः मास तक निरुपचय और निरपचय हैं। ※ ८१

※ ८१ यह संसार अनंत है। तथा अनंत पर्यायों से युक्त चेतन-जडादि अनंत पदार्थों से परिपूर्ण है। सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा के अतिरिक्त कोई भी अन्य व्यक्ति इस संसार का माप नहीं कर सकता।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की मर्यादा मे अवस्थित मनुष्य अपूर्ण ज्ञानी है, अतः वह अनत ससार के अनत पदार्थों को देखने और जानने मे असमर्थ है। क्योंकि ये दोनो ज्ञान इन्द्रियाधीन होने से मर्यादित ही है।

(१) मतिज्ञानी की इन्द्रियो मे विषय ज्ञान की शक्ति का न्यूनाधिक-पन होने से सब पदार्थ और पर्यायो को तारतम्य भाव से देखेंगे। ससार के द्रव्योकी ऐसी विचित्रता है कि मतिज्ञानी अनेक द्रव्यो का स्पर्श भी नहीं कर सकता। इसीप्रकार हमारा स्वभाव भी मर्यादित है। जिससे ससार की अनेक वस्तुओ को जानने की उत्कठा भी नही होती है। इससे इस ज्ञान की दुर्बलता स्पष्ट दिखाई देती है जिससे दृश्यमान पदर्थो की भी पूरी जानकारी नही मिल सकती है। तो फिर अदृश्यमान पदार्थों को जानने की तो बात ही कहाँ रही ?

(२) अनेक पदार्थ ऐसे है जो आगमगम्य ही हैं। और वर्तमान मे आगमवाद मे गुरुगम भी नही। अत आगमगम्य पदार्थ हमेशा के लिए आगम-गम्य (श्रद्धा गम्य) ही होते है।

(३) ज्ञेयतत्त्व की गहनता के कारण भी हमारा मतिज्ञान उनकी गहराई तक प्रवेश नही प्राप्त कर सकता।

(४) ज्ञानावरणीय कर्म का उदय काल भी तीव्र है। जिससे अनेक पदार्थ हमारी समझ मे नही आते हे। क्योकि मतिज्ञान के क्षयोपशम की अपेक्षा मतिज्ञानावरणीय कर्म अनतगुण विशेष है।

(५) हेतु और उदाहरण के अभाव मे भी पदार्थ स्पष्ट रूप से नही जाने जाते है।

(६) श्रुतज्ञानी भी अनत पदार्थ तथा प्रत्येक पदार्थ के अनत पर्यायो को नही जान सकता क्योकि केवल ज्ञानी जितने पदार्थो को जानते है। उतने का उपदेश भी नही दे सकते, और जितने तत्त्व उपदिष्ट है, उनमे से अनन्त मे भाग मे ही शास्त्रो मे गूथाये हुए है। इससे श्रुतज्ञान भी सर्व पदार्थो को स्पर्श नही कर सकता।

सम्यग्दर्शन के अभाव मे मति-अज्ञानी, श्रुत अज्ञानी और विभगज्ञानी भी पदार्थो को विपरीत और सशयशील होकर देखेगे। इसलिए मिथ्याज्ञान प्रमाणित नही होता है। उनके देखे हुए, जाने हुए और प्ररूपित हुए तत्त्व यथार्थ न होने के कारण प्रमाणभूत नही बन सकते।

इन्द्रियो के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान मे अपूर्णता इसलिए है कि बाह्य इन्द्रियो की विषय ग्रहण करने की शक्ति जैसे मर्यादित है उसीप्रकार भावेन्द्रियो को भी विशिष्ट प्रकार की क्षायिकी लब्धि नही मिली होने से अनत ससार को जान सकने मे समर्थ नही है।

क्षयोपशमिक ज्ञान चार प्रकार का है।

१ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मन पर्यव ज्ञान। इसमे से पहले के दो ज्ञान को पौद्गलिक इन्द्रियो और मन की आवश्यकता अनिवार्य है। जब अन्तिम २ ज्ञान यद्यपि आत्मिक होते है फिर भी ज्ञानावरणीय कर्मो का समूह समूल नष्ट न होने से ये दोनो ज्ञान छाद्मस्थिक कहे जाते हैं। इसलिए ही अवधिज्ञानी और मन पर्यव ज्ञानी भी पूर्णज्ञानी नही है। क्योकि अवधिज्ञानी भाव से अनत पर्याय जानते है। फिर भी प्रत्येक द्रव्य के अनत पर्यायो के नही जान सकते हैं। यह ज्ञान गृहस्थ को भी हो सकता है। परन्तु वह गृहस्थ शुद्ध मन से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा

इसप्रकार [illegible] ने फरमाया है, 'सर्वज्ञ' वही हो सकता है, जो समग्र [illegible] और एक पदार्थ के अनंत पर्यायों को जानने में समर्थ है।

यदि भगवान को समग्र [illegible] का [illegible] ज्ञान ही न हो तो उनका 'भगवत्व' किस काम का?

पदार्थ मात्र में अनंत पर्याय अस्तित्व और नास्तित्व के संबंध की अपेक्षा विद्यमान होने के कारण द्रव्य मात्र अनंत धर्मात्मक ही होता है। ऐसी स्थिति में जो भगवान् पदार्थ के एक पर्याय को भी सम्यक् प्रकार से नहीं जान सकते हैं तो सब पर्यायों को किस प्रकार जान सकते हैं?

ऐसी स्थिति में 'अनंत विज्ञान' विशेषण को सार्थक नहीं करनेवाले व्यक्ति सब पर्यायों के न जानने के कारण सर्वज्ञ नहीं बन सकते।

द्रव्य मे स्थित अनंत पर्याय :-

अब संक्षेप मे हम उन अनंत धर्मों के संबंध मे विचार करते हैं जिनका हमको ख्याल आता है। अनंत यानी जिनका अंत नही, गणना नही, उन अनंत द्रव्य और सहभावी तथा क्रमभावी पर्याय-स्वरूप को धर्म कहते है।

धर्म और धर्मी, गुण और गुणी, तथा स्वरूप और स्वरूपी तादात्म्य संबंध से सहभावी ही है। इसमे धर्म, गुण तथा स्वरूपको ही पर्याय कहते है। और धर्मी गुणी तथा स्वरूपी द्रव्य है।

सूर्य से किरण और द्रव्य रूप किरणो से प्रकाश गुण जैसे किसी काल मे और किसी के प्रयत्न विशेष से भी अलग नही हो सकता। उसीप्रकार द्रव्य और उनके पर्याय अलग नही हो सकते।

पदार्थ मात्र मे स्थित अनंत धर्मों की विद्यमानता अस्तित्वरूप (होने के

रूप मे) और नास्तित्व रूप मे (न होने के रूप मे) तर्क सगत और आगम सगत है। आखिल ससार मे आकाश के कुसुम, गधे के सीग और वन्ध्या के पुत्र की विद्यमानता है ही नही। अत उनके अनत धर्मो की विचारणा भी नही हो सकती। परन्तु घटपट जीव शरीर आदि द्रव्यो की विद्यमानता प्रत्यक्ष है। इसलिए उसके अनत धर्म भी विद्यमान है। क्योकि द्रव्य विना पर्याय और पर्याय विना का द्रव्य किसीने कभी नही देखा है, दिखाई नही देता है और भविष्य मे भी दिखलाई नही देगा।

यहाँ सिद्धान्त के समर्थन मे सुवर्ण के घडे का ही उदाहरण लेते है जो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्तित्व धर्म से और दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा नास्तित्व धर्म से सवधित है।

सत्त्व, ज्ञेयत्व, और प्रमेयत्वादि धर्मो की अपेक्षा इस घडे के सवध मे विचार करते हुए सत्व आदि उस घडे के स्वपर्याय ही है। क्योकि पदार्थ मात्र मे सत्वादि धर्म होने से इन धर्मो की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु परस्पर समान है, सजातीय है, तथा विजातीय पर्यायो के लिए उसमे अवकाश नही है।

घडा पुद्गल के परमाणुओ से वना हुआ है। इसलिए पौद्गलिक द्रव्य रूप सत् है। परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल द्रव्य रूप से तो वह असत् है, यहाँ पौद्गलिकत्व घडे का स्वपर्याय है और दूसरे द्रव्यो के अनत पर्याय परपर्याय है।

पृथ्वी का वना हुआ होने से पार्थिव रूप सत् है और जलादिक से न वना हुआ होने से उस रूप मे असत् है। यहाँ पर पार्थिव रूप मे घडे का स्वपर्याय एक ही है। जवकि जलादि के परपर्यायो की सख्या अनत है। पार्थिव मे भी धातुरुप सत् है। जवकि असख्य माटी वगैरे द्रव्यो की अपेक्षा से असत् है। धातु मे भी सुवर्ण रूप सत् है, जवकि तावा पीत्तल आदि धातुओ से नही वना हुआ होने से उस रूप मे असत् है। अमुक गाव के अमुक वाजार के मोतीराम सोनी द्वारा वना हुआ होने से वह रूप सत् है।

और दूसरे नरानाम आदि आकार में हाथ से घड़े हुए (बने हुए) नहीं होने से उस रूप से असत् है। बड़े पेटवाला, आड़ी डाढ़ी गरदन वाला होने से वह रूप सत् किन्तु छोटा पेट, बड़ीगर्दन आदि असख्य आकार विशेष से असत् है। गोलाकार सत है, किन्तु दूसरे आकार से असत् है। इसप्रकार इस सोने के घड़े मे स्वपर्यायो का अस्तित्व है। जबकि परपर्यायो का नास्तित्व भी स्वत सिद्ध है। क्षेत्र की अपेक्षा जम्बूद्वीप, भरत क्षेत्र, बबई, कुमारवाड़ के क्षेत्र को लेकर सत् है। जबकि दूसरे असख्य क्षेत्र, असख्य गाँव, आदि की अपेक्षा से असत् है। अमुक उपाश्रय के क्षेत्र को लेकर सत् है। जबकि दूसरे अनत क्षेत्रादि को लेकर असत् है। अमुक आकाश प्रदेश को लेकर सत् है, जबकि दूसरे आकाश प्रदेश को लेकर असत् है। काल की दृष्टि से अमुक वर्ष का, हेमन्तऋतु का, पोष महिने का, शुक्ल पक्ष मे, अष्टमी के दिन मे दोपहर को तीन बजे बनाया हुआ होने की अपेक्षा सत् है। जबकि दूसरे वर्ष दूसरी ऋतु, दूसरे महिने के अनत काल की अपेक्षा असत् है।

भाव की अपेक्षा से, अमुक रग की अपेक्षा को लेकर सत् है जब कि दूसरे रग की अपेक्षा से और रगो की तारतम्यता के अनुसार असत् है। शब्द की अपेक्षा से भिन्न भिन्न देशो मे घट शब्द के अर्थ की जानकारी के लिए अलग २ शब्दो का व्यवहार होता है। जैसे, घडा, माटलु, वेडियो, मटको, पोट (*POT*) आदि शब्दो की अपेक्षा से सत् है किन्तु दूसरे अनत द्रव्यो के वाचक शब्दो की अपेक्षा से असत् है।

सख्या की दृष्टि से घडे की पंक्ति मे यह घडा पाचवा होने की अपेक्षा से सत् है। जब कि पहले और पीछे के अनत घडो की अपेक्षा से असत् है।

सयोग—वियोग की अपेक्षा से अनत काल मे, इस घडे के अनत पर्यायो के साथ सयोग तथा वियोग हुआ, तो उसदृष्टि से सत् है और दूसरे पदार्थो के साथ सयोग वियोग हुआ नही है, उस अपेक्षा से असत् है।

परिमाण की अपेक्षा से अब यह घडा जिस प्रमाण मे है, उस माप की अपेक्षा से सत है। और दूसरे छोटे बडे माप की दृष्टि से असत् है।

इसके अनुसार एक ही पदार्थ मे अनत धर्मो की विद्यमानता तर्क सगत है। "धन विना का गरीब मनुष्य जैसे धनवान नही कहलाता है, उसीप्रकार घडे के जो पर्याय नही है उसको घडे के साथ नास्तित्त्व सवध भी किस लिए जोड देवे ?" इसके उत्तर मे इतनी ही जानकारी देनी हे कि धन और गरीब दोनो पदार्थ ससार मे विद्यमान है, केवल इस समय दोनो का अस्तित्व सवध भले ही न हो किन्तु नास्तित्व सवध तो है ही इस कारण साधारण भापा का व्यवहार होता है। कि 'यह मनुष्य धन विना का है, और ससार भर का कोई मनुष्य इसका अर्थ वरावर समझ जाता है कि इस मनुष्य के पास अभी धन नही है। उसीप्रकार घडे मे इस समय जो पर्याय है, वे अस्तित्व सवध के आभारी है। और जो पर्याय अभी नही है वे नास्तित्व सवध के आभारी है' इसप्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए इस अस्तित्व और नास्तित्व के सवध मे वितडावाद की आवश्यकता नही है।

इसलिए प्रत्यक्ष से या आगम से दिखाई देते हुए अनन्त धर्मो से परिपूर्ण पदार्थ मात्र को देखने के लिए अनतविज्ञान (केवलज्ञान) की आवश्यकता अनिवार्य है।

इसप्रकार भगवान महावीर स्वामी के तीर्थकरत्व को सिद्ध करने के लिए अनत विज्ञान तथा अतीत दोप की सार्थकता देखने के बाद "अवाध्य सिद्धान्त" विशेपण की यथार्थता की भी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं।

घाती कर्मो का समूल नाश होने के बाद जो सर्वथा निर्दोप होता है उसका सिद्धान्त ही अवाध्य होता है। अरिहत तीर्थकर भगवान जो सर्वथा निर्दोप-है। तथा सयोगी-सशरीर होने के कारण ही समवसरण मे विराजमान होकर, देव-असुर, मानव और उसके अधिपतियो की पर्पदा मे व्याख्यान देते है।

सिद्धान्तो की रचना पौरुषेय ही होती है । किसी शास्त्र में भी अपौरुषेय शब्द प्रमाण नहीं हो सकते है । क्योंकि शरीर धारियों के ही मुख, कंठ, तालु और होठ आदि अवयव होते है । जो शब्दो की उत्पत्ति का मूल कारण है । उसके बिना शब्दो का स्पष्ट उच्चारण सर्वथा असंभव है ।

यह शरीर धारी भी केवल ज्ञानी होता है । सर्वज्ञ होता है । उसके ही वचन प्रमाण होते है । अबाधित होते है । क्योकि तीर्थंकरो के जीवन मे शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक दोषो का सर्वथा अभाव ही होता है । और जो केवल ज्ञान को प्राप्त करने मे समर्थ नही है, उनके जीवन मे तो शारीरिक दोष, काम, क्रोध के मानिक संस्कार और आत्मिक दोषो की भरमार अवश्यमेव होने के कारण ही उनके वचन परस्पर अप्रमाणित होते है । जैसे कि :—

छान्दोग्य उपनिषद मे **"न हिंस्यात् सर्वभूतानि"** इस प्रकार स्वीकार करने के पश्चात् भी ऐसा कहा है, "अश्वमेध नाम के यज्ञ के मध्य मे ५९७ पशुओ का वध करना चाहिए" और **"ऐतरेय उपनिषद"** मे अग्निषोम यज्ञ के समय मे पशुओ का वध करना चाहिए । और तैत्तरीय सहिता मे "१७ प्रजापति सबधी पशुओ को मारने चाहिए । इत्यादि ग्रन्थो से ऐसा विदित होता है कि ऐसे ग्रन्थो के रचयिता सर्वज्ञ नही माने जा सकते । अन्यथा परस्पर विरोधी बातें उपनिषद मे किसलिए लिखी जावें ?

"नानृतं ब्रूयात्" झूठ नही बोलना, इसप्रकार का प्रतिपादन करने के पश्चात् भी आपस्तभ सूत्र मे **"ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात्"** ब्राह्मण के लिए झूठ बोलने मे पाप नही लगता है । वसिष्ठ धर्म सूत्र मे तो इसप्रकार कहा है कि "हास्य मे, स्त्री सहवास मे, विवाह प्रसग मे, प्राण नाश के समय मे, और धन अपहरण समय मे कोई भी मनुष्य झूठ बोले तो भी पाप नही लगता है । **"पर द्रव्याणि लोष्ठवत्"** दूसरे का धन मिट्टी के ढेले के समान है । इसप्रकार कहने के पश्चात् भी यदि ब्राह्मण

किसी का भी धन हठाग्रह मे आकर छलना पूर्वक भी चुराले तो उस ब्राह्मण को पाप नही लगता है।

इस प्रकार देवी भागवत मे **'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'** अर्थात् पुत्र विना के मनुष्य की सद्गति नही होती है। इसप्रकार कहने के बाद भी **'आपस्तंभ सूत्र'** मे 'अनेक कुमार ब्रह्मचर्य धर्म की उपासना से पुत्र बिना ही स्वग मे गये है। उपर्युक्त वचनो से ही मालूम होता है कि उनके वचन उनके ही सूत्रो से परस्पर बाधित है। इसलिए ही सर्वज्ञ भगवान महावीर स्वामी का अवाध्य सिद्धान्त विशेषण सार्थक है।

अमर्त्य पूज्य से इतना जाना जा सकता है कि सामान्य और विशेष आदमियो को जो लौकिक देव मान्य है वैसे देव-इन्द्र-असुर नागकुमार, लोकपाल, ब्रह्म देवलोक भी तीर्थंकर देव के जन्म समय मे, दीक्षा समय मे, केवल ज्ञान समय मे और निर्वाण समय मे **"कोडिसय संथुअ"** इत्यादि वचन से खड़े पैर करोड-करोड देवता, सदैव हाजर ही रहते है। जीव मे इसप्रकार चार विशेषणो से युक्त तीर्थंकर देवो का ज्ञान ससार के पदार्थ मात्र को यथार्थ रूप से जानते है, और प्ररूपित करते है। तभी तो ससार मे जीव राशि परिमित है अपरिमित हैं ? जीव कम होते है ? बढते है। सिद्ध हुए जीवो की सख्या बढती है ? अथवा घटती है ? नारक जीव बढते हैं ? कम होते है ? वृद्धि और कमी होने का उत्कृष्ठ और जघन्य समय कितना ? इत्यादिक सबके लिए सर्वथा अभूतपूर्व प्रश्न और उत्तर जैन शासन के आगमसूत्र सिवाय कही भी मिल सके वैसा नही है। क्योकि इसप्रकार के प्रश्नो के उत्तर अनत ज्ञान के ही आधीन है। जिज्ञासु बनकर चार ज्ञान के मालिक गौतम स्वामीने प्रश्न पूछा है और चराचर ससार के प्रत्यक्ष करनेवाले भगवान महावीर स्वामी ने जवाब दिया है। **"इदं न प्रष्टकं, न ज्ञातव्यं, न व्याकरणीयम्"** इत्यादि प्रसग केवली भगवान के पास नही हो सकते हैं।

जो वादी ससार को तथा जीवो को परिमित मानते है – जैसेकि

निगोद के जीवों का आहार और श्वासोच्छ्वास एक साथ ही होता है, जन्म और मरण भी साथ ही होता है। तथा अति कठोर–असह्य वेदना को भोगनेवाले हैं।

शतक-५ वाँ, उद्देशक-८ संपूर्ण

शतक पांचवां उद्देशा-१
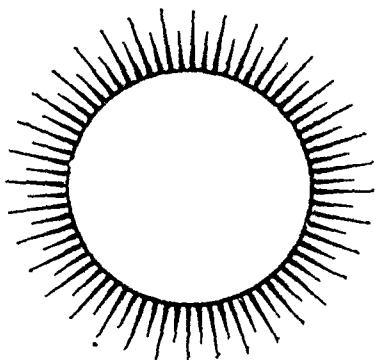
उद्योत और अंधकार

इस प्रकरण में-राजगृह क्या है ? दिन में उद्योत और रात मे अंधकार क्यों है ? किन जीवों को समय की जानकारी होती है ? श्री पार्श्वनाथ के शिष्यों के प्रश्न, इत्यादि विषय है। सार निम्नानुसार है :-

राजगृह, पृथ्वी, जल और वनस्पति तक कहा जाता है, राजगृह कूट और शैल कहा जाता है, राजगृह यह सचित, अचित और मिश्रित द्रव्य भी कहा जाता है।

श्री गौतम स्वामी के प्रश्न और भगवान के उत्तर प्राय: करके राजगृह नगरी में हुए है। राजगृह का नाम लेकर पूछे गये प्रश्नों के ये उत्तर हैं। इसप्रकार का कथन अपेक्षित है। क्योंकि पृथ्वी यह जीव है और अजीव है। इसलिए यह राजगृह नगर कहा जाता है। सचित, अजित और मिश्र द्रव्य भी जीव हैं, अजीव हैं, इसलिए राजगृह नगर कहा जाता है, अर्थात् पृथ्वी आदि समुदाय राजगृह नगर है। क्योंकि पृथ्वी आदि के समुदाय विना राजगृह शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती है। राजगृहनगर जीवाजीव स्वभाव वाला है, यह प्रतीत है।

दिन में उद्योत-प्रकाश और रात्रि मे अंधकार होने का

यह है कि दिन में अच्छे पुद्गलों का शुभ परिणाम होता है। रात में अशुभ पुद्गलों का अशुभ पुद्गल परिणाम होता है।

नैरयिकों को प्रकाश नहीं किन्तु अंधकार होता है। क्योंकि नैरयिकों के अशुभ पुद्गलों का अशुभ पुद्गल परिणाम होता है।

असुर कुमारों को प्रकाश होता है, क्योंकि उनके शुभ पुद्गलों का शुभ पुद्गल परिणाम होता है। इसप्रकार स्तनित कुमार तक समझ लेना।

नैरयिकों की तरह पृथ्वीकाय से लेकर तीन इन्द्रिय जीव तक अंधकार जानना।

इसका कारण यह है कि पृथ्वी कायादि से तीन इन्द्रिय तक के जीवात्माओं को आँख इन्द्रिय न होने के कारण दिखने योग्य वस्तु नहीं दिखलाई देती है। इसलिए उसकी तरफ शुभ पुद्गलों का कार्य नहीं होने से अंधकार कहा जाता है।

चतुरिन्द्रिय जीवों का शुभ अशुभ पुद्गल के शुभ अशुभ पुद्गल परिणाम होता है। इसलिए उनको प्रकाश भी है और अंधकार भी है।

असुर कुमारों की तरह वानव्यंतर, ज्योतिषिक और वैमानिक के लिए जान लेना।

समयादि का ज्ञान तथा रात्रि दिवस अनंत या नियत परिणाम

नैरयिक, समय, आवलिका, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी को नहीं

जानते है। क्योकि समयादि का मान तो यहाँ मनुष्यलोक मे है।

इसीप्रकार पचेन्द्रिय तिर्यच योनिको के लिए समझना। समयादि का मान और प्रमाण मनुष्य लोक में होने से मनुष्यों को इसका ज्ञान है।

जैसे नैरयिको के लिए कहा है, वैसे वानव्यंतर, ज्योतिषिक और वैमानिको के लिए जान लेना चाहिए।

एक समय की बात है, जब भगवान पार्श्वनाथ के स्थविर भगवान महावीर स्वामी से मिलते है। दोनो न बहुत दूर न बहुत नजदीक बैठकर इसप्रकार विचार करते है:—

असख्य लोक मे अनंत रात्रि दिवस उत्पन्न हुए है? उत्पन्न होते है? उत्पन्न होंगे? नष्ट हुए है? नष्ट होते हैं? नष्ट होंगे? या नियत परिमाण वाले रात्रि दिवस उत्पन्न और नष्ट हुए, होते है और होगे?

इसप्रकार प्रश्न पूछते हैं और जवाब में भगवान कहते है कि—

अनंत रात्रि दिवस उत्पन्न और नष्ट हुए, होत है और होंगे

इनका कारण बताते हुए भगवान ने कहा है कि पुरुषादानीय पार्श्वनाथ अर्हतन लोक को शाश्वत कहा है, तथा अनादि कहा है।

यहाँ लोक का स्वरूप इसप्रकार बताया है:-

अनत, परिमित, अलोक से परिवृत, नीचे विस्तीर्ण, बीच मे

संकीर्ण, ऊपर विशाल, नीचे पल्यंक के आकार तथा बीच में उत्तम वज्र के आकारवाला, और ऊपर ऊंचा, खड़े मृदंग के आकार के जैसा लोक कहा गया है, इसी प्रकार के लोक में अनंत जीव पैदा होकर नाश होते हैं। यह लोक जीवों द्वारा जाना जाता है। निश्चित होता है। जिस प्रमाण से जाने जाते हैं, उसे लोक कहते हैं।

पार्श्वनाथ भगवान के स्थविर महावीर स्वामी के अनुयायी बन गये। उससे उन्होंने प्रतिक्रमण सहित पांच महाव्रतों को स्वीकार किये।

देवलोक चार प्रकार के कहे जाते हैं :-

१ भवनपति, २ वानव्यंतर, ३ ज्योतिष और ४ वैमानिक।

उनमें भवनवासी १० प्रकार के कहे हैं।

वानव्यंतर ८ प्रकार के कहे हैं।

ज्योतिषिक ५ प्रकार के कहे हैं।

वैमानिक २ प्रकार के कहे हैं।

॥ नवाँ उद्देशा समाप्त ॥

उद्देशा–१०

दशमे उद्देशे मे किसी का वर्णन या प्रश्नोत्तर नहीं है। केवल पहले उद्देशक में जैसे सूर्य का वर्णन किया है, वैसे इस उद्देशक मे चन्द्र का वर्णन जानकारी के लिए किया गया है और वह चपानगरी के वर्णन मे है।

इसप्रकार भगवान की देशना सुनकर पर्षदा मे बैठे हुए प्रसन्न हुए और अपने अपने स्थान पर जाने के लिए खडे हो गये तथा भगवान को नमस्कार कर निम्नानुसार 'नमुत्थुण' सूत्र के पदानुसार भगवत की स्तुति की और पर्षदा अपने अपने घर गई तथा भगवान भी अन्यत्र विहार कर गये।

भगवान महावीर स्वामी की विशेषणात्मक स्तुति

१) श्रमण–मानसिक खेद के विना जो उत्कृष्ट प्रकार से सात्विक तप करते है, पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को पहचानते है तथा सपूर्ण जीवराशि के प्रति समता भाव को धारण करते है, उसे श्रमण कहते है।

सच्ची तपश्चर्या वह है जो लोकैषणा, भोगैषणा और वित्तैषणा का सपूर्ण त्याग करके आत्मा की अनत शक्तियो के प्रादुर्भाव के लिए की जाती है। "आत्मान रागादि शत्रून् च तापयतीति तपः" तपश्चर्या वह है जिससे तामसिक, राजसिक, और छद्मस्थादि दोषो का समूल नाश होता है। तपश्चर्या वह है जो कर्मो की सपूर्ण निर्जरा (क्षम) कराकर परमात्मपद को प्राप्त कराती है। ऐसी आत्मलक्षीभूत तपश्चर्या करने वाले श्रमण हैं।

(२) महावीर–आत्मीय शत्रुभूत कर्मो का तपश्चर्या द्वारा क्षय करने_

[illegible] है। जो [illegible] हुआ [illegible] है। [illegible]
और वीर्य से युक्त जो है वे वीर है। वीर्य अर्थात् आत्मा का [illegible]
अक्षय [illegible], अनन्त [illegible] और [illegible]
भी अपूर्व [illegible] रखता है, वह वीर है। भगवान महावीर स्वामी की अन्तरंग
वीर्य शक्ति अपूर्व और अद्वितीय थी, जिसके द्वारा [illegible] और उन्हें
[illegible] पराजित करते गये। "[illegible]
महावीर." रणाङ्गण में तलवार, तीर, धनुष आदि शस्त्रों द्वारा हजारों
लाखों मनुष्यों का दमन करना सरल है, किन्तु स्वयं की आत्मा का दमन
करनेवाला ही सच्चा वीर है महावीर है। लौकिक और अलौकिक इन महा-
पुरुष दो प्रकार के होते है, जिसमें से लौकिक पुरुष दमन नीति से वश
होकर संसार के विजेता बन जाता है। जब अलौकिक तीर्थंकर परमात्मा
'शमन नीति' के आधारपर सब जीवो को वशकर अपना तथा दूसरों को
आत्मकल्याण करवाते है।

२) आदिकर–(आइगराण) आदिकर उसे कहते हैं जो अपने तीर्थ
की अपेक्षा से श्रुतधर्म को प्रकट करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्यग्
श्रुतज्ञान अनादिकाल से एक ही है। आदिनाथ भगवान ने जो बातें कहीं
है, वही बाते महावीर स्वामी ने भी कही है। उस अपेक्षा से आदिकर
विशेषण सार्थक है। महावीर स्वामी ने जैन धर्म को स्थापित किया है,
इसलिए जैन धर्म के आदि प्रवर्तक महावीर स्वामी है, यहाँ पर ऐसा अर्थ
नही करना है। और यह अर्थ जैन धर्म को मान्य भी नही है। क्योंकि
'धर्म' अनादि निधन होने से किसी काल मे भी उसकी आदि नही। जब से
मानव समाज है, वहाँ से जैन धर्म है और जब से हिंसा कर्म है, वहाँ से
जैन धर्म का प्राण सम अहिंसा धर्म भी है अहिंसा और हिंसा से रहित मानव
किसी समय मे भी नही रहा, इसलिए इस स्थान पर अपने अपने शासन
की अपेक्षा से द्वादशांगी की रचना करने के कारण ही तीर्थंकर आदिकर
कहलाते हैं। इसलिए यह विशेषण अपेक्षा से जैसे युगादि भगवान ऋषभदेव

को लाभ होता है वैसे अन्तिम महावीर स्वामी को भी यथार्थ रूप से लागू होता हैं।

४) तीर्थंकर-तित्थयराणा जिसकी आज्ञा को शिरोधार्य करके प्राणी मात्र ससार-सागर से तर जाता हे, उसे तीर्थ अथवा प्रवचन कहते है। इन दोनो अर्थो की विद्यमानता सघ मे होती है, इसलिए जो सघ की स्थापना करते हे वें तीर्थंकर है।

साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप सघ के चार पाये (पैर) है। साधु और साध्वी के गुण एक से होते है। और श्रावक तथा श्राविका के गुण एक से होते है। 'साध्नोति स्वपरहित कार्याणीति साधुः इस व्याख्या को लक्ष्य मे रखकर जैन साधु को सवसे पहले अपना लक्ष्य सिद्ध करना है। सयम लेने के वाद साधु तथा साध्वी को निम्नानुसार २७ प्रकार के सयम पालना आवश्यक है :—

संयम के २७ भेद

१ जीव हिंसा का सर्वथा त्याग
२ असत्य का सर्वथा त्याग
३ चोरी का सर्वथा त्याग
४ मैथुन कर्म का सर्वथा त्याग
५ परिग्रह मात्र का त्याग
६ रात्रि भोजन तथा रात्रि पानी पीने का सर्वथा त्याग
७ पृथ्वीकाय के जीवो की रक्षा
८ जलकाय के जीवो की रक्षा कुआ, वावडी, तालाव तथा

१४ जिह्वेन्द्रिय की लोलुपताका सर्वथा त्याग
१५ घ्राणेन्द्रिय के भोग का त्याग
१६ आख-इन्द्रिय के भोग से दूर
१७ कान-इन्द्रिय के भोग से दूर
१८ लोभ दशा का निग्रह
१९ चित्त की निर्मलता
२० वस्त्रादिक की प्रति लेखना
२१ अष्ट प्रवचन माता का पालन
२२ क्षमा को धारण करना

[illegible]

११) [illegible] (मग्गदयाणं) [illegible], [illegible] और [illegible] अन्तर्दृष्टि के [illegible] [illegible] दर्शन [illegible] ज्ञान का [illegible] देनेवाले हैं।

१२) लोकप्रद्योतकर (लोगपज्जोअगरे) सम्पूर्ण लोक के त्रिकालवर्ती भावों को अपने केवलज्ञान से प्रकाशित करनेवाले होने से लोकालोक को उद्योत करनेवाले हैं।

१३) अभयद (अभय दयाण) किसी को भी भय देनेवाले नहीं, तथा प्राणघातक उपसर्गों के करनेवाले चड कौशिक सर्प, सगमदेव, कान मे कीले ठोकनेवाला ग्वाला जैसे प्राणियो के प्रति भी दया भाव का चिंतन करके उनको भी अभयदान देनेवाले है, अथवा सपूर्ण जीवो के भय को दूर करनेवाले हैं। वे भयस्थान निम्नानुसार सात प्रकार के है :- १) इहलोक भय–अर्थात् एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का भय होना, उसे इहलोक भय कहते हैं देवदुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर मनुष्य यदि सत्सगप्रेमी और विवेकवान बने तो उससे किसी को भी भय नही रहता है। वैसे ही वह खुद किसी से भी डरता नही है। परन्तु मनुष्य जब आसुरी वृत्ति का मालिक बन कर ईर्ष्यान्ध, कामान्ध, क्रोधान्ध और लोभान्ध बन जाता है तब वह दूसरे से द्रोह किये बिना नही रहता है। तब "द्रोग्धुर्वै परतोभयम्" इस न्याय से वह हमेशा भयग्रस्त बना रहता है।

२) परलोक भय–जानवर वगैरह अन्य जाति की तरफ से जो भय लगता है, उसे परलोक भय कहते है। जैसे "यह कुत्ता मुझे काट खायगा

तो ?" सर्प मुझे डस जायगा तो ? इसप्रकार का भय इस जीवात्मा को बनाही रहता है।

३) आदान भय-धन, माल, मिल्कियत (सपत्ति) आदि को चोर लूट लेगे तो मेरा क्या होगा, इसप्रकार का भय।

४) अकस्मात भय-अर्थात् 'घर मे आग लग जायगी तो ? धरती कप होगा तो ? सागर के किनारे पर रहता हू तो कभी सागर मे तूफान उठ गया तो ? इस प्रकार भय के कारण मनुष्य का हृदय कापता रहता है ।

५) आजीविका भय-पैसा कमाने का भय, व्यापार का भय, नौकरी का भय, तथा रोग पीडा, बीमारी का भय ये आजीविका भय है।

६) मरण भय, मृत्यु का भय होने से मोत से बचने के लिए छट पटाता रहता है, ज्योतिपियो को जन्म पत्रिका बताते हुए चक्कर काटना, पडितो (सामुद्रिक रेखा जाननेवालो) को अपना हाथ दिखाते फिरना, और मृत्यु से रक्षा के लिए भिन्न भिन्न तरीके अपनाते रहना, यह मरण भय है।

७) अपयश भय—लोग मेरी निंदा करेगे तो? इतना करता हूँ, फिर भी लोग मेरी तारीफ नही करते है। इसप्रकार के अपयश भय से रातदिन चिन्तित रहता है।

उपरोक्त ७ (सात) प्रकार के भय को दूर करनेवाले भगवान महावीर स्वामी है। अर्थात् भगवान महावीर स्वामी के चरणो मे आये हुए मनुष्यो का भय सब प्रकार से दूर हो जाता है और वह सर्वथा अभय अवस्था को प्राप्त करता है।

(१४) चक्षुदायक (चक्खुदयाण) असीम भावदया के मालिक भगवान महावीर स्वामी सबको श्रुतज्ञानरूपी दिव्य चक्षु देनेवाले हैं। क्योंकि

[illegible]

जैसे [illegible] भूले भटके मनुष्यों को [illegible] [illegible] उपकार करता है वैसे भगवान भी संसार रूपी अरण्य में पीड़ित और राग-द्वेष रूपी चोरों से लुटाए हुए तथा कुवासना-मिथ्यावासना रूपी अज्ञान से इधर उधर भटकते जीवों को श्रुत ज्ञान रूपी चक्षु देकर अनंत गुण के स्थान रूप निर्वाण मार्ग को दिखाकर सबका अनुपम उपकार करनेवाले हैं।

(१५) मार्गद (मग्गदयाण) जीव मात्र को सम्यग् ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूपी तीन रत्न देकर परमपद (मोक्ष के रास्तेपर चढानेवाले है।

(१६) शरणद (सरणदयाण) सबको धर्म का रास्ता बताकर अनेक उपद्रवो से पीडित जीवो को खुद की शरण मे लेकर उपद्रव रहित करनेवाले है।

(१७) धर्म देशक (धम्मदेसयाण) श्रुत चारित्र रुपी धर्म के उपदेशक हैं।

(१८) धर्मदायक (धम्मदेसयाण) ससार मे हीरे-मोती-सुवर्ण-चादी और सत्तास्थान तो देनेवाले अनेक है किन्तु श्रुत चारित्र रूपी धर्म बताने-वाले तीर्थंकर देव ही है। चारित्र का अर्थ इसप्रकार है, "जहाँ नये पापो का द्वार सर्वथा वद हो जाता है और पुराने पाप प्रतिक्षण धुल (क्षीण) जाते हैं।"

पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु और वनस्पति मे जीव हैं, इसलिए साधु उनका उपयोग करही नही सकते। साधुको स्नान नही करना है, पुष्पमालाओ का परिधान साधुता को कलकित करनेवाले है। अपने हाथो से

रसोई बनाकर भोजन करने मे प्रत्यक्ष रूप से अग्नि के जीवो की तथा जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपता है। पखा हाथ मे लेकर हवा खाना, यह गृहस्थो को शोभा देता है। खेती वाडी प्रत्यक्ष हिंसक कार्य है, इत्यादि पापकार्यो का सेवन साधुओ को शोभा नही देता। इसलिए कहा है कि "गृहस्थाना यद्भूषण तद् साधूना दूषणम्" उपरोक्त के अनुसार सपूर्ण पापकार्यो का सबसे पहले त्याग करवाकर अत्युत्कृष्ट सयम धर्म को बतानेवाले भगवान महावीर स्वामी है।

(१९) धर्म सारथि (धम्मसारहीण) चारित्रधर्म रूपी रथ के प्रवर्तक होने से भगवान को सारथि की उपमा दी गई है, जिसप्रकार सारथि रथ की, उसमे बैठनेवाले की तथा घोडो की रक्षा करता है उसीप्रकार भगवान भी धर्म के सारथि होने से सयमधारी को स्थिर करके सयम धर्म मे लगानेवाले हैं।

(२०) धर्म चक्रवर्ती (धम्मवर चाउरत चक्कवट्टीण) जिसप्रकार सपूर्ण पृथ्वी के राजाओ मे चक्रवर्ती राजा प्रधान है। उसीप्रकार धर्म देशको मे तीर्थंकर देव अतिशय सम्पन्न होने से श्रेष्ठ धर्म देशक है। "चाहे जैसे और चाहे जिसके तत्वज्ञान को जानने मात्र से मोक्ष नही किन्तु भाव शत्रुओ को जीतने से ही मोक्ष है।" महावीर स्वामी के सयम का साधक दिन प्रतिदिन शुद्ध लेश्यावाले, इसलिए होते जाते हैं कि उसे सब जीवो के साथ मैत्रीभाव का व्यवस्थित रूप से विकास और शिक्षा प्राप्त हो गई है।

(२१) **अप्रतिहत श्रेष्ठज्ञानदर्शन धारी (अपडिहय नाण दंसण धराण)** ज्ञान दो प्रकार के है। एक क्षायोपशमिक और दूसरा क्षायिक। पहले मे कर्मावरण हैं तथा उसकी असर है। और शायद वह असर बढती ही जाती हो तो ज्ञानी होने के बाद भी ससार के माया-परिग्रह-क्रोध और काम की बढती हुई भावना मे उसका ज्ञान केवल बाह्याडबर रूप मे ही रहेगा। जब दूसरे क्षायिक ज्ञान मे सपूर्ण कर्म मैल धुले हुए होने के कारण

[illegible] भी कभी अन्त नही पाती है। भगवान महावीर स्वामी भी ऐसे धारक ज्ञान तथा दर्शन को रखनेवाले है।

(२२) विगत छद्मस्थ भाव (वियट्टछउमाणं) भगवान वे है जिनमें छद्मस्थत्व–दुजनत्व कर्मों के आवरण दूर चले गये है। जहाँ तक जीव मे शाठ्य अर्थात् कर्मों का आवरण होता है तब तक उसका जन्म–मरण का चक्कर बन्द नही होता है। तभी उसको पुनः पुनः अवतार (जन्म) धारण करना पड़ता है। परन्तु राग द्वेष वगैरह का सर्वथा नाश करने से छद्मस्थभाव नही रहता है।

(२३) जिन (जिणं) वें कहलाते है जिन्हो ने रागद्वेषादि अतरग शत्रुओ को अपने जीवन मे से बाहर निकाल दिये है। बाह्य शत्रुओ को जीतना बहुत सरल है किन्तु, भाव शत्रुओ को जीतना यही सच्ची तपश्चर्या है। जो अत्यन्त कठिन मार्ग है, आत्मा के प्रबल पुरुषार्थ बिना यह मार्ग अरिहन्त भगवान के बिना किसी को भी प्राप्त नही है।

(२४) ज्ञायक रागद्वेष का स्वरूप, उनकी अनत शक्ति और उनको जीतने के लिए सम्यग्ज्ञान जिन्होने प्राप्त किया है, और उसीके ,अनुसार ही दूसरे जीवो को भी राग द्वेषादि को जीतने के लिए उपदेश देते है, उन्हें भगवान कहते है।

(२५) बुद्ध (बुद्धाणं) जीव–अजीव–पुण्य–पाप–आश्रव–सवर, बंध निर्जरा और मोक्ष रूप नव तत्त्वो को जिन्होने यथार्थ रूप से जानलिया है, वे भगवान है। पहले नवतत्त्वो को सम्यक् प्रकार से जानना और जाने हुए तत्त्वो को सम्यक् दर्शन से श्रद्धा रखना और चारित्र अर्थात् जानकारी प्राप्त किये और श्रद्धा प्राप्त किये तत्त्वो को जीवन मे उतारना यही मानव कर्तव्य है। और अरिहत के मार्ग पर चलने का सरल उपाय है।

(२६) बोधक (बोहयाणं) स्वय जानकारी प्राप्त किये गये जीवादितत्त्वो

को उसी प्रकार दूसरो को उपदेश देनेवाले भावदया के मालिक, पतित पावन भगवान महावीर हैं।

(२७) **मुक्त (मुत्तं)** बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि को जिन्होने तोड डाला है, वह मुक्त कहलाता है। गृहस्थाश्रम-पुत्र परिवार मातापिता-धन-धान्य-सुवर्ण, रजत आदि बाह्य परिग्रह है। और मिथ्यात्व, वेदत्रय, हास्य-रति-अरति-भय-शोक-जुगुप्सा, क्रोध-मान-माया और लोभ, इसप्रकार आभ्यन्तर परिग्रह है, इन दोनो ग्रन्थियो को तोडकर कर्म के पिंजरे मे से सर्वथा मुक्त होते है, वे भगवान हैं।

(२८) **मोचक (मोअगाणं)** कर्म पिंजरे मे से सदुपदेश-हितोपदेश देकर दूसरे जीवो को भी मुक्त करानेवाले अरिहत भगवान हैं। परन्तु राग द्वेष परिग्रह तथा पुनः पुन अवतार धारण करनेवाले जो स्वय कर्म के बधन मे दबाये हुए है, वे दूसरो को किसी समय मे भी मुक्त नही करा सकते अतः वीतराग देव ही कर्ममुक्त होने से दूसरो को भी मुक्त करने मे समर्थ है।

(२९) **सर्वज्ञ-सर्वदर्शी सव्वण्णूणं सव्वदरिसिण** त्रिकालवर्ती पर्यायात्मक पदार्थ मात्र को विशेष रूप से जानते हैं उन्हें सर्वज्ञ कहते है और सामान्य प्रकार से जानते है उन्हें सर्वदर्शी कहते हैं। अर्थात् छद्मस्थ पहले देखते है और बाद मे जानते हैं। जब तीर्थंकर देव पहले जानते है और फिर देखते है।

कर्मो के जाल को तोड़कर सिद्ध शिला पर विराजमान अरिहन परमात्मा अनतज्ञानी हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं। इससे जो मुक्तावस्था मे ज्ञान की मात्रा नही स्वीकार करते है, उनका खडन होता है। क्योकि ज्ञान आत्मा का गुण होकर गुणी से अलग नही होता है, वैसे ही गुणी किसी काल मे भी गुण बिना किसी स्थान पर अर्थात् निगोद, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव-देवेन्द्र, चक्रवर्ती और सिद्धशिला मे भी नही रहता है।

(३०) शिव (सिवं)—सम्पूर्ण रूप से द्रव्य और भाव-बाधाओं से रहित होने के कारण अरिहंतदेव मंगलभूत होते है।

(३१) अचल (अयलं)—सिद्ध शिला प्राप्त करने के पश्चात् सादि-अनन्त रूप में वे सर्वथा अचल होते है। कर्मो का सम्पूर्ण नाश होने से उनकी स्वाभाविक और प्रायोगिक गति भी नही होती है।

(३२) अरुज (अरुअं)—जिनेश्वर देव को द्रव्य और भाव रोग नही होते है क्योकि इन दोनो रोगो का कारण शरीर और मन होता है। परमात्मा परमेश्वर को शरीर प्राप्त करनेका कारण नामकर्म सर्वथा क्षीण हो गया है और शरीर बिना मन भी नही होता है। ऐसी स्थिति मे "कारणाऽभावे कार्यमपि नास्ति" जन्म समय के, जरा समय के, शारीरिक रोगो को तो हम जान लेते है उनको द्रव्यरोग कहते है। जब काम, क्रोध, मद, माया, लोभ ईर्ष्या-वैर आदि से उत्पन्न होनेवाले विकार और चेष्टाए भावरोग से सबोधित होते है। ये दोनो रोग भगवान को नही होते है।

कमडल पास मे रखने का आशय यह है कि उनका शरीर अशुद्ध है। स्वय के शिर पर रहे वडे देव का भजन करने के आशय से ही जपमाला रक्खी जाती है।

धनुषबाण गदा-तीर-धनुष-तलवार वगैरह शस्त्र रखने का आशय तो यह है कि खुद के शत्रुओ को मारना। स्त्री को अपने पास रखना काम अवस्था को सूचित करता है। रुडमाला खप्पर आदि धारण करना हत्या के सूचक है। गाय-बैल-अश्व-सिह-मोर-हस आदि पशुपक्षी-गण की सवारी अहिंसातत्व की पूर्णता को सूचित नही करती है। इसलिए द्रव्य और भाव रोग जिसके नाश हो गये हैं वे ही भगवान पूज्य है और स्तुत्य हे।

(३३) अक्षय (अक्खयं)—परिपूर्ण अथवा कृतकृत्य होने से भगवान

(३४) **अनंत (अणंतं)**—द्रव्यमात्र मे स्थित अनत धर्मो के विषययुक्त ज्ञान होता है, उसे अनत कहते है ।

(३५) **अव्याबाध (अव्वावाहं)**—दूसरे जीवो को किसी भी प्रकार से पीडा करनेवाले नही है ।

(३६) **अपुनरावृत्ति (अपुणराविती)**—कर्मबीज सर्वथा जल जाने के कारण जिसको दुबारा ससार मे अवतार धारण करना नही है । तो फिर अरिहत भगवान को पुनः पुन जन्म धारण करने की बात सभव हो सके, वैसा नही है । ऐसे देवाधि देव भगवान सिद्धि गति के स्थान को प्राप्त हो गये हैं । क्षीण कर्मी जीवो का स्थान लोक के अग्रभाग पर होता है । और धर्मास्ति कायादि पदार्थो का अवसान वही है । इसलिए उस स्थान को छोडकर आगे नही बढ सकते । वैसे ही कर्मबीज का नाश होने से दुबारा ससार मे अवतार लेने के लिए कोई भी प्रयोजन नही है । भक्तो को आशीर्वाद और दुष्टो को दड देने की वृत्ति (इच्छा) मोहकर्म के कारण होती है । जब देवाधिदेव परमात्मा का मोहकर्म जड मूल मे उखड चुका है । उपर्युक्तरीत्या भगवत महावीर स्वामी की स्तुति करती हुई जनता अपने घर गई

॥ शतक ५ उद्देशा १० पूर्ण ॥

(समाप्ति वचनम्)

दर्शन, आगम, काव्य व्याकरणादि–अमूल्य साहित्य को प्रकाशित करवाकर जैनेतर तथा पाश्चात्य विद्वानों के हृदय में जैनत्व के संस्कार स्थापक, स्याद्वादनयनयनत्रयधारक, अहिंसा–संयम तपोधर्म प्रचारक, मदमदनशमनकुशल, उपरियालादितीर्थोद्धारक, यशोविजय जैन गुरुकुल, पालीताना आदि अनेक संस्थाओं के स्थापक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. १००८ श्रीविजय धर्मसूरीश्वरजी म. के. शिष्यरत्न, शासन दीपक, मुनिराज श्री. विद्याविजयजी म. ने अपने स्वाध्याय के हेतु भगवतीसूत्र पर जो संक्षेप से विवरण लिखा था उनके शिष्य, न्याय–व्याकरण काव्यतीर्थ पंन्यासजी श्री पूर्णानन्द विजयजी (कुमारश्रमण) ने स्वमति अनुसार उसपर विशद, स्पष्ट तथा सरल भाषा में विवेचन कर प्रकाशित करवाया है।

शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्

शुद्धि—पत्रक

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पंक्ति
की	का	४	७
ज्ञानीन	ज्ञानीने	५	२
–दरि--	दीरि	१०	३
रित्य	रीत्य	११	१
मुद–	पुद्–	१३	७
दशे	देशो	,,	८
मुग	भुग	१५	४
पड	पडे	१६	१२
जेरा	जंरा	,,	१४
अभो--	आभो--	१९	२४
यादि	यादिका	२०	३
मर	आर	२०	५
श्रय	श्रव	२०	६
ये	०	,,	१२
--धिक	-यिक	,,	१६
म	मे	,,	२१
चरि--	चारि--	१३	
	,	,,	

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
[illegible]–	[illegible]–	१८८	१[illegible]
स्तन	स्तून	१७९	११
करता है	करते है	१८०	[illegible]
,,	,,	,,	७
पुद्गा–	पुद्गगा–	१८६	२[illegible]
ईश्वर	ईश्वर	१८७	८
पंचेन्द्रिय	पंचेन्द्रिय	१८९	१
को	की	,,	४
दृष्टी–	दृष्टि–	१९०	१५
पदे	पादे	१९०	१७
कम	कर्म	,,	२
मोच	गोच	१९९	१५
कुर्वंण	कुर्वंणा	२०२	१३
महस्त्रार	महस्रार	२०४	१३
को	की	२०६	१६
करता	करते	२०७	१२
की	को	२०८	१३
आतपाना	आतापना	२०९	४
भाग	भग	२११	७
शकेन्द्र	शक्रेन्द्र	२१२	२
–कार्थ	काध	,,	९
,,	,,	,,	१०
जसा	जैसा	२१९	२०
–दीप	–द्वीप	२२०	१७
[illegible]	सकते	२२१	१६
	वाले	२२४	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पंक्ति
जातहै	जाता है	२२५	१२
सट	सठ	२२६	३
मुज	मज्ञ	,,	७
जाने	जाते	,,	१८
देपि	द्वेपि	२२७	१२
योनी	यानि	२२८	२
–त्रत्ति	–वृत्ति	,,	१३
रू	रूप	,,	१८
द्वेप	द्वेप	२२९	२
नथा	तथा	,,	१९
इमलिये	इमलिये	२३०	१४
शैलशी	शैलैशी	२३२	७
करवाना	अनुमोदना	२३५	१२
चाहिय	चाहिये	२३८	१३
जितना	उतना	२३९	५
को	का	,,	२३
–वरण	करण	२४०	१
मित	णित	२४०	१२
पह	पहले	२४१	२
लियेले	लिये	,,	३
नित	तीत	,,	२१
मकना	मकता	२४३	१७
र्मो का	कर्मों का	२४६	१२
जीव	जीव को	,,	१४
पूर्वांग	पूर्वांग	२४७	८
होनी	होती है	२५०	
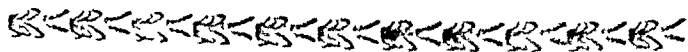
(समाप्ति वचनम्)

दर्शन, आगम, काव्य व्याकरणादि-अमूल्य साहित्य को प्रकाशित करवाकर जैनेतर तथा पाश्चात्य विद्वानो के हृदय में जैनत्व के सस्कार स्थापक, स्याद्वादनयनयनद्वयधारक, अहिंसा-सयम तपोधर्म प्रचारक, मदमदनशमनकुशल, उपरियालादितीर्थोद्धारक, यशोविजय जैन गुरुकुल, पालीताना आदि अनेक संस्थाओं के स्थापक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. १००८ श्रीविजय धर्मसूरीश्वरजी म. के. शिष्यरत्न, शासन दीपक, मुनिराज श्री• विद्याविजयजी म• ने अपने स्वाध्याय के हेतु भगवतीसूत्र पर जो सक्षेप से विवरण लिखा था उनके शिष्य, न्याय-व्याकरण काव्यतीर्थ पन्यासजी श्री पूर्णानन्द विजयजी (कुमारश्रमण) ने स्वमति अनुसार उसपर विशद, स्पष्ट तथा सरल भाषा मे विवेचन कर प्रकाशित करवाया है।

शुभं भूयात् सर्वेषां जीवानाम्
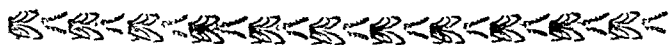
शुद्धि-पत्रक

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पंक्ति
की	का	४	७
ज्ञानीन	ज्ञानीने	५	२
--दरि--	दीरि	१०	३
रित्य	रीत्य	११	१
मुद--	पुद्--	१३	७
दशे	देशे	,,	८
मुग	भुग	१५	४
पड्	पडे	१६	१३
जेरा	जंरा	,,	१४
अगो--	आभो--	१९	२४
यादि	यादिका	२०	३
मर	आर	२०	५
श्रय	श्रव	२०	६
ये	०	,,	१३
--धिक	--यिक	,,	१६
म	में	,,	२१
चरि--	चारि--	१३	२
,,	,,	,,	,,
क्षण--	अण--	,,	११
वार	धार	,,	२१

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र
अनि–	अनी–	१७८
स्यून	न्यून	१७९
करना है	करते है	१८०
,,	,,	,,
पुद्गा–	पुद्गला–	१८६
ईश्कार	ईश्वर	१८७
।चेन्द्रिय	पचेन्द्रिय	१८९
को	की	,,
दृष्टी–	दृष्टि–	१९०
पदे	पादे	१९०
कम	कर्म	,,
मोच	गोच	१९९
कुर्वण	कुर्वणा	२०२
सहस्त्रार	सहस्त्रार	२०४
को	की	२०६
करता	करते	२०७
की	को	२०८
आतपाना	आतापना	२०९
भाग	भग	२११
शकेन्द्र	शक्रेन्द्र	२१२
–कार्य	काध	,,
,,	,,	,,
जसा	जैसा	२१९
–दीप	–द्वीप	२२०
लकते	सकते	२२१
–वाल	वाले	२२४

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पंक्ति
जातहै	जाता है	२२५	१३
सप्ट	सठ	२२६	३
मुज	मुझ	,,	७
जाने	जाते	,,	१८
देपि	द्वेपि	२२७	१३
योनी	यानि	२२८	२
–वत्ति	–वृत्ति	,,	१३
रू	रूप	,,	१८
द्वेप	द्वेप	२२९	२
नथा	तथा	,,	१९
इमलिये	इसलिये	२३०	१४
शैलशी	शैलेशी	२३२	७
करवाना	अनुमोदना	२३५	१२
चाहिय	चाहिये	२३८	१३
जितना	उतना	२३९	५
को	का	,,	२३
–वरण	करण	२४०	१
मित	णित	२४०	१२
पह	पहले	२४१	२
लियेले	लिये	,,	३
तित	तीत	,,	२१
मकना	सकता	२४३	१७
कों का	कर्मों का	२४६	१३
जीव	जीव को	,,	१४
पूर्वाग	पूर्वांग	२४७	८
होती	होती है	२५०	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृ	पंक्ति
शयन	शान	२५३	८
मे	मे गी	२५४	२७
अधम—	अधम	२६७	२८
वला—	वेला	२६८	१४
चिनन्	चितानने	,,	,,
अगनार वहुधा अर्थात्	०	२६९	९
वना—गे	बना देंगे	२७१	२२—२३
क	के	२७२	३
—इन्द्रिए	इन्द्रिये	,,	२२
—सयय	—सयम	२७३	८
सजइन्द्रिय	मजइन्दिए	,,	२५
सपम	सयम	२७४	१३
हैं	रहा है	,,	१४
?	०	,,	२३
जाया	गया	२७५	२१
करते	करती	२७७	२
त्प	त्य	२७७	२१
सेवर्त	सेवार्त	,,	२५
आत्यन्त	अत्यन्त	२७९	२४
वर्प्ती	वर्ती	२८१	६
—को	को का	,,	१४
स्वर्श	स्पर्श	२८२	१५
भुगतने	भुगते	२९४	५
विपद	विशाद	३१५	६
छुटकारा	छूटकारा	३२२	१४
अपते	अपने	३२५	२५

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पंक्ति
गूण	गुण	३२७	१६
हेश	देश	३२८	१८
निदर्यी	निर्दयी	,,	२१
निध्वंस	निर्ध्वंस	,,	,,
दैव-	दैवी	३३०	४
बकसीश	बक्षीस	३३०	२३
पत्था	पन्था	३३१	१
अरा	आरा	३३२	३
समद्धि	समृद्धि	३३४	१६
ससार	ससार	३३५	२०
से	को	३३७	७
भोग-	भोगा-	,,	२३
योग्य	०	,,	,,
उसके	अत	,,	२४
जन-	जैन	,,	२६
ग्राथि	ग्रन्थि	३४०	११
दव-	देव-	३४१	१६
त्याग	त्यागी	३४३	९
स्तव	स्तक	,,	१५
सत्र	सूत्र	३४५	२
दिना	दिया	३४५	९
श्रुति-	श्रुत-	३४६	१२
,,	,,	,,	१३
भव	भाव	३४७	१६
कहना है	देखना	३४९	६
वैदूर्य	वैडूर्य	३५०	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पंक्ति
वैदूर्य	वैडूर्य	३५०	२३
के	को	३५१	५
समावन	सभावना	,,	,,
लेश्मा	लेश्या	,,	११
शुलेश्या	शुक्ल लेश्या	,,	२२
शुक्-	शुक्ल-	,,	२५
,,	,,	३५२	२
लेश्गाओ	लेश्याओ	,,	३
अयत्त	अत्यन्त	,,	१३
कपोत	कापोत	,,	२०
धर्मे-	धर्म-	३५५	३
स्पंटी	स्पष्टी	,,	७
चि-	त्रि-	३५६	२१
जन	जिन		
छोवे	छोटे	३६३	१
पुरी	पुरो	३६४	१२
अपेक्षाए	अपेक्षासे	३६७	१०
तिर्गच	तिर्यंच	,,	१८
विपृा	विप्टा	,,	१८
होते	होता	३६८	१२
भगवात	भगवान्	,,	१७
अद्यि-	अद्वि-	३६९	८
-गीच	-णीय	३७०	२२
निप्प-	निप्प	,,	२३
गृहणी	गृहिणी	,,	,,
पश्वाथ्	पश्चात्	३७१	१

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पंक्ति
मला-	मुला-	,,	१४
प्रभु	प्रभु	३७३	६
सूद्र	सूत्र	३७४	२१
समव	समय	३७७	६
ममय	,,	३७८	५
शेर रस	०	,,	२४
विदर्ण	विदीर्ण	३७०	९
दीग	डीग	,,	११
जीवात्सा	जीवात्मा	,,	२४
क	के	३८०	१
कृ-	कु-	,,	२०
वाद	वाद	३८१	१५
सक्त	नात	,,	,,
कछआ	कछुआ	३८३	१
वगला	वगुला	,,	२
हर्शना-	दर्शना-	३८४	१९
आति	आती	३८५	३
-त्वात	त्यात-	३८५	२४
चरित्र	चारित्र	,,	,,
उनाल	उतावल	३८६	२२
उमे	वह	३८७	३
यो	०	,,	१३
वमत	पमत	३८८	१
ह-	ह्-	,,	८
ठिक	ठिक	,,	९
प्रिति	प्रति	३८९	२

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र
–णिय	–णीग	३९०
हती	होती	,,
पीना	पीना	३९२
व्यवहार	व्यवहार	,,
स्यार्थ	स्वार्थ	,,
के	कि	३९३
वनोगे	वनेंग	३९४
उपवियो	उपाभियो	,,
है	आये है	३९५
४९७	३९७	३९७
थ	थे	,,
ीक्षित	दीक्षित	,,
भूलोको	भूलो का	३९८
द्वार	द्वारा	,,
महशूरा	महसूस	३९९
उमडत	उमडता	४००
विपभ	विषम	४०१
सघता–	सयता–	४०२
स्वामी	०	,,
प्रप्ति	प्राप्ति	४०४
पदर्थो	पदार्थो	४०४
मत्	यत्	४०५
यत्	तत्	,,
पर्यात्मक	पर्यायात्मक	४०७
पदार्थ	पदार्थ का	,,
को	के	४०८

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पक्ति
पदार्थ	पदार्थ की	,,	१
होतो	होता	,,	५
चक्ष	चक्षु	४०९	१७
पदाथ	पदार्थ	४१०	१२
थोर	और	४११	१
अत्मा	आत्मा	,,	११
की	के	,,	२१
वेशा-	वेश्या	४१३	५
-गमन	-गम	४१४	६
और	और न	४१५	१४
सात्र-	साव-	,,	१५
कर्भ	कर्म	४१७	१
क्षयक-	क्षपक-	,,	१०
अवि	अकि	,,	१२
ह	है	३१८	६
येदना	वेदना	,,	१०
परत्माओ	परमात्माओ	२२१	२१
धी	श्री	४२४	८
पद्या	पद्मा	,,	९
कोळक	कोष्ठक	,,	१३
अनराघा	अनुराधा	,,	२२
भत्स्य	मत्स्य	४२५	१
वज	वज्र	,,	७
नद्रा-	नदा	४२५	१०
गल्लि-	मल्लि-	,,	११
होने	होने	४२९	२

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र
त्याज्य	त्यान्य	,,
होते	होने	४३२
ग्राघ	ग्राह्य	,,
दीघायुर्ष्य	दीर्घायुष्य	४३६
पच्चीय	पच्चीस	४३७
भटा–	भट्टा–	,,
स्पेश–	स्पेश्या–	४३८
नही	०	,,
से	०	४४०
सम–	सम्य–	४४२
सत्य	सत्य–	४४३
सद्या	सद्दा	४४०
वनी	होकर	४४५
,,	,,	,,
सभ्म	सम्य	,,
स्वर्गदि	स्वर्गादि	,,
को	के	,,
का	के	४४६
भरवान	भगवान्	४४८
फगमाते'	फरमाते'	,,
मुनिराजाओ	मुनिराजो	४४९
सामयिक	सामायिक	,,
की जाति	०	,,
की	के	,,
उश्चरने	उच्चरने	,,
कोई	कोइ	४५०

अशुद्ध	शुद्ध	पत्र	पंक्ति
-गृहिकी	ग्रहिकी	४५०	३
ग्राहिकी	,,	४५१	२०
हुई	०	४५२	१
जन	जिन	४५९	१५
पारितापनिकी	प्राणातिपालिकी	४६०	२२
-सग	-मग	४६१	६
मुक्त	भुक्त	४६८	१४
अगादि	अनादि	४७४	८
कहते	करती	४७६	४
-मरा	-मर	४७८	१
उद्द-	उद्दे-	४७९	३
जीव	जीवन	४८७	१२
भयन-	भवन-	४९७	१८
आर	और	४९९	१२
खह	खोह	५०२	५
का	०	५०४	४
पदार्थ	पदार्थ का	,,	,,
जे	जो	५२२	२१
-जिक	-जिन	५२३	६
जाता	जाते	,,	१८
को	के	५२४	१
माल	मात	५२५	१८
अपदिहृथ	अपडिहृय	५२७	२०
चक्रम	चक्र	५२८	६
छ उभाण	छउमाण	,,	३

※ ※ ※

आधि-व्याधि तथा उपाधिरूप दावानल से दग्ध हुए संसार के प्राणियों के लिये मेघ से गिरते हुए नीर के समान भगवान महावीरस्वामी को हमारी वन्दना है।

संसार की माया को सेवन करनेवाले जीवात्माओं के लिये चारों तरफ उत्पन्न हुई मोहकर्मरूपी धूलिको नाश करने में पवन के जैसे देवाधिदेव को हम मन-वचन तथा काया से नमस्कार करते है।

जगत की मायारूपी पृथ्वी के अन्तर्भाग को चीरने के लिये हल के जैसे पतितपावन भगवान महावीर-स्वामी की हम वारंवार स्तुति करते है।

कल्पान्त काल के झंझावात से भी विचलित नहीं होनेवाले मेरु पर्वत के समान भगवान महावीरस्वामी को हमारी त्रिकाल वन्दना हो।

सर्वश्रेष्ठ ध्यानकी प्रक्रियारूपी ताप से कर्म विकाप-रूपी कीचड को जिन्होंने सुखा दिया है, वे भगवान महावीरस्वामी सब जीवोंको हर्ष देनेवाले होवें।

अपनी शरण में आये हुए जीवों के शुभ कार्य करने वाले होने से ब्रह्मा के समान, जन्म–मृत्यु के चक्र में से सबों की रक्षा करने में विष्णु के समान, पापियों के पापों को क्षय करने में शंकर के समान ऐसे हे प्रभो! आप हमारे मोक्ष के मार्ग प्रदर्शक बनिये।

क्षत्रिय वंशोत्पन्न, त्रिशलारानी के पुत्र, सिद्धार्थ राजा के नन्दन, ज्ञानवंशीय, सुवर्णसमान कायावाले, ऋषभनाराच संघयण के धारक, समचतुरस्रसंस्थान से देदीप्यमान भगवान महावीरस्वामी को मैं श्वासोश्वास में हजारों बार स्मरण करता हूँ।

लोभियों को लोभरूपी राक्षस से छुडानेवाले, कामियों को कामदेवरूपी गुंडे से बचानेवाले, क्रोधियों को क्रोधरूपी चांडाल से रक्षण करनेवाले, मायारूपी सर्पिणी के विषसे नष्ट हुए मानवों को देशनारूपी अमृत पिलानेवाले हे पतितपावन, दलितोद्धारक भगवान महावीरस्वामी हमारा भी संसार का विष उतारनेवाले बनो।

आपके श्रीमुखसे प्रकाशित यह भगवतीसूत्र घर घर में आनन्द मंगल देनेवाला बने, यह मेरी आशा है।

पूर्णानंदविजय (कुमारश्रमण)